श्री वर्णी साहित्य मन्दिर पुष्प —२

षोडश भावना प्रवचन

द्वितीय भाग

—:०:—

प्रवक्ता —

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक —

जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर स्टेट बैंक
मंत्री, श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण]
१०००]

फरवरी
१९६६

[न्यौछावर
[एक रुपया

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द महाराज
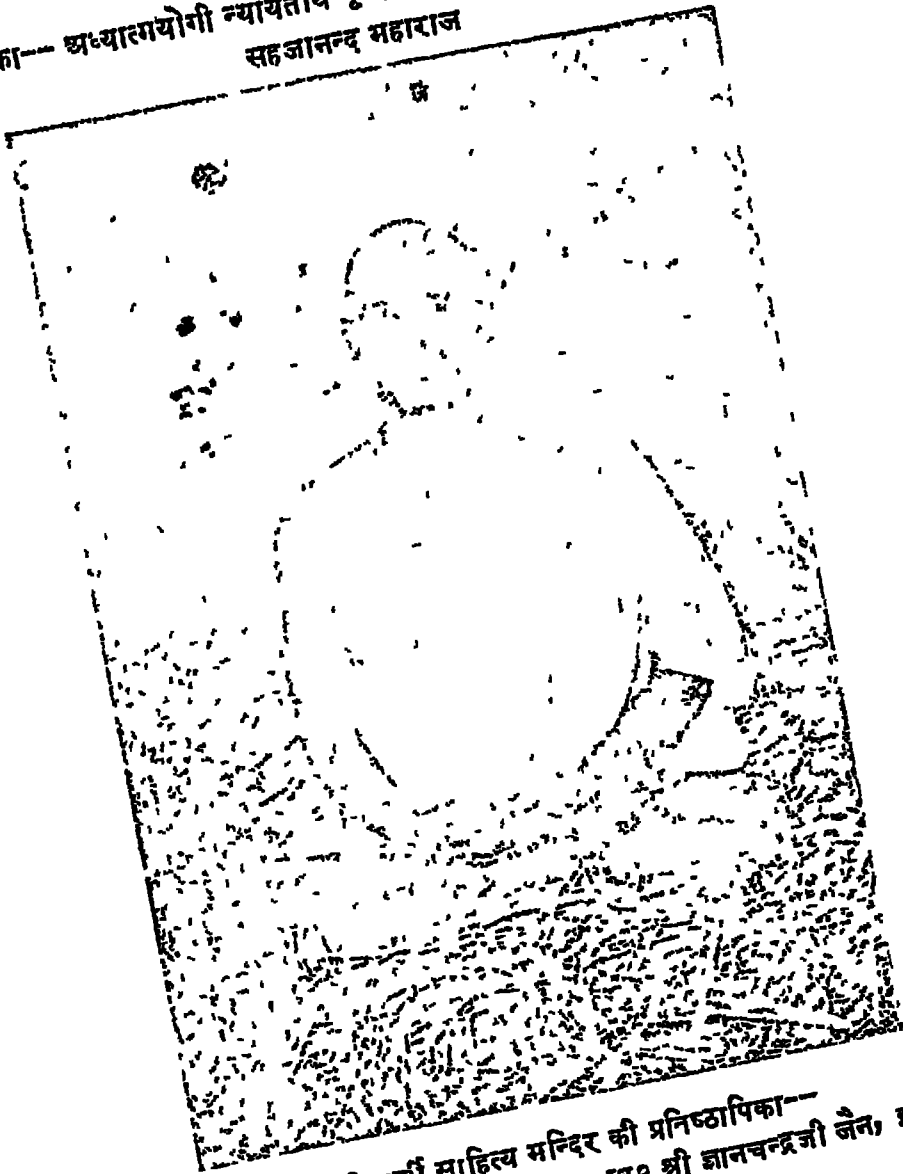
श्री वर्णी साहित्य मन्दिर की प्रतिष्ठापिका—
श्रीमती दानशीला धनवन्तीदेवी ध० प० स्व० श्री ज्ञानचन्द्रजी जैन, इटावा

प्रवर्तक सदस्य—
श्र। रंगलाल रतनचन्द्रजी जैन पमारी, इटावा

प्रकाशकीय

प्रिय पाठकवृन्द ! बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि आपके कर-कमलोंमें षोडश भावना प्रवचनका द्वितीय भाग प्रस्तुत करनेका सौभाग्य शीघ्र मिला है। इटावामें सन् १९६४ के चातुर्मासके भाद्रपद मासमे पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द जी' महाराजके षोडश कारण भावनापर प्रवचन हुये थे। जिसमें दर्शनविशुद्धि भावनापर जो प्रवचन हुये थे वे प्रथम भागमे प्रकाशित हो चुके हैं। अब इस द्वितीय भागमे विनय सम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवात्सल्य, इन १५ भावनाओंपर जो प्रवचन हुये थे, वे प्रकाशित किये गये हैं।

ये प्रवचन अध्यात्मशैली की पद्धतिसे किये गये हैं। इस कारण इन प्रवचनोंकी वाचना आध्यात्मिक झुकाव सहित करने से विशेष आनन्द और लाभ प्राप्त होता है। इसकी नवीनता और आनन्दकी अनुभूति पाठकवृन्द स्वयं अनुभव कर लेंगे। अत इस विषयमे हम लिखना आवश्यक नही समझते हैं।

हमारा यह सुझाव है कि षोडशकारण पर्वके दिनोंमें यदि षोडशभावना प्रवचनकी वाचना की जाये तो इससे श्रोतागणोंको भी अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा तथा षोडशभावनाओंका महत्त्व विदित होने से षोडशकारण भावना भानेकी प्रेरणा मिलेगी।

षोडशकारण भावना भानेसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, जो स्वपर कल्याण करते हुये निश्चय मोक्षप्रदाता है। इनमें दर्शनविशुद्धि भावना अनिवार्य और प्रधान है। सम्यक्त्वके साथ जगतके जीवोंके उद्धरण की इसमें भावना होती है। इस उपयोगिताके कारण पूज्य वर्णीजी ने बहुत विस्तृत प्रवचन किये थे तथा अन्य भावनाओंपर भी विशेषतया प्रवचन किये थे। दोनो भागोंके ये प्रवचन आद्योपान्त पढ़नेके योग्य हैं। अतएव पाठकोंको हमारा यह सुझाव है कि वे भावनाके नियत दिनोंमे उस भावनाका प्रवचन अधूरा छोड़कर आगे पढ़नेका प्रयत्न न करके क्रमशः ही सब प्रवचनों को धैर्य और शान्तिके साथ पढ़ें।

यदि हमारे प्रकाशनसे पाठक बन्धु लाभान्वित हुये तो इसमें हम अपने श्रमको सफल समझेंगे।

प्रकाशक—
मंत्री— जयन्तीप्रसाद जैन

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हू जो हैं भगवान , जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुप दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥

—: ० :—

षोडशभावना प्रवचन द्वितीय भाग

२—विनय सम्पन्नता

तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धके कारणोंमे द्वितीय भावना विनय-सम्पन्नता है। विनयसे ओत प्रोत रहना, समृद्धिशाली रहना इसका नाम विनय-सम्पन्नता है। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है। इस कारण प्रत्येक स्थलके विनयको विनयसम्पन्नता नहीं कहा गया है, किन्तु मोक्षमार्गके प्रसगमें जिनका सम्बंध है ऐसे भावो और धर्मात्माजनोंके विनयसे प्रयोजन है। विनय ५ प्रकारका कहा गया है— दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। विनय ४ प्रकारका भी कहा है— ज्ञान-विनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।

दर्शन विनय— सम्यक् श्रद्धानमें विनय होना सो दर्शनविनय है। ससारमें रुलने वाले जीवोंको एक सम्यक्त्वका ही सहारा है। सम्यक्त्वके बिना संकटोंसे मुक्ति पानेका अन्य कोई उपाय नहीं है। भला बतलाओ कि सर्वपदार्थ जब अपने ही स्वरूपमय हैं और अपना स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, तो ज्ञानानन्दस्वरूपी अपने आत्माको इतने सकट जो लग गये हैं, यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? यह सब भ्रमका ही प्रसाद है। कुछ नहीं बनाना है अपनेको। बनी हुई है, सत्तासे बनी हुई है। स्वभावनिवृत्त है, किन्तु भ्रम करके जो विपदा विडम्बना बना ली है उनको तो दूर करे बिना काम न सरेगा। जहा सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ दर्शन हो जाता है, यह मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हू, मैं अपनी सत्तासे अपने आपमें स्वयं वैसा हूं, इस बातका जिन्हें दर्शन हो जाता है ऐसे पुरुषोंको यह बात ध्यानमे आती है— अहो, सम्यग्दर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्वके बिना अनादिकालसे अब तक कुयोनियोंमें भ्रमण करते हुए चले आये हैं। यों सम्यक्त्वके प्रति विनय जगना यह है दर्शनविनय।

दर्शनविनयका परिकर— विनय भी एक भाव है, और जिसके प्रति विनय किया जा रहा है वह भी एक भाव है। दर्शनधारी सम्यग्दृष्टि जीवोंका विनय करना भी इस दर्शनविनयमें सम्मिलित है, पर मोक्षमार्गके प्रकरणमें प्रमुखतासे भावोंका विनय भावोंसे किया जाय, इसका विशेष प्रयोजन है, ऐसे सम्यक्त्वके प्रति विनयका परिणाम रखने वाले पुरुष व्यवहारमें अर्थात् जब अन्य जीवोंके प्रति कुछ व्यवहार करते हैं तो वहां

सम्यग्दृष्टि पुरुषमें विनयभाव जगता है। अहा, ये भी मोक्षपथके पथिक हैं। एक ही रास्तेमें जाने वाले पथिकोंसे कैसी प्रीति हो जाती है ? आप भिण्ड जा रहे हों पैदल, और पैदल ही भिण्ड जाने वाले दो एक मुसाफिर और मिल जायें तो उस समय आप अपने कुटुम्बकी तरह उनसे व्यवहार करते हैं। यों ही मोक्षमार्गके प्रयोजक पुरुषोंको मोक्षमार्गके पथिक मिल जायें तो उनको वह कितनी प्रीति करता है ? दर्शनविनयमें सम्यक्त्वका विनय होना और सम्यग्दृष्टि पुरुषका विनय होना, सो दर्शनविनय बताया है। अपने सम्यक्त्वमें कोई दोष न लगे। शंका, वाञ्छा आदिक जो २५ दोष बताये गए हैं वे दोष न लग सकें, ऐसी अपने ज्ञानकी सावधानी बनाना, उपयोगको सावधान रखना यह भी दर्शनविनय है।

आत्मदर्शनका महत्त्व—ऐसे दर्शनविनयमें लगे हुए पुरुष जब संसार के जीवोंपर एक दृष्टि करते हैं, उनका सिंहावलोकन करते हैं तो एक परम करुणा उत्पन्न होती है। अहो, ये सब स्वतः ज्ञानानन्दके निधान हैं। एक उपयोगकी निजसे पराङ्मुखता हो गयी है, इसमें यह कितना अन्तर आ गया है, ज्ञानानन्दका ही अनुभवन करें, ऐसा इसका स्वयं स्वभाव है, पर कितनी विपरीतता आ गई है और यह विपरीतता केवल अपने स्वभावके पराङ्मुख उपयोगको करनेसे आ गयी है, अन्य किसी पदार्थसे नहीं आई। जो इतनी विवशता मान ली जाय कि क्या करें, यह दूसरा इसे उठने ही नहीं देता है। हालांकि जब यह जीव गिरता है, विभावोंमें लगता है तो किसी न किसी परउपाधिका निमित्त पाकर ही लग सकता है। पर-उपाधि पाये बिना जीव विभावमय बने, इतने पर भी जीव अपने परिणमनसे अपनी भूलसे विभावरूप बनते हैं, परके परिणमनसे नहीं। अहो, यह प्राणी अपने उपयोगको निजस्वभावसे पराङ्मुख किए है। इतने मात्र अपराधसे इतना बड़ा अन्तर आया है कि वृक्षोंके कीड़ोंके कितने प्रकार हैं ? जलचरों में, पशुपक्षियोंमें कैसी-कैसी अवगाहना है ? इस जीवको जब अपने आप की दृष्टि जगे और यह संकटोंसे मुक्त हो, ऐसी परमकरुणा होती है तब इस विनयसम्पन्न पुरुषके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानविनय— दूसरा विनय है ज्ञानविनय। सम्यग्ज्ञानकी आराधना में प्रयत्न करना, ज्ञानमें आस्था रखना। इस ज्ञानके प्रतापसे ही सन्मार्ग मिलता है, अशांतिसे हटकर शांतिमें स्थिति बनती है, ऐसा जानकर सम्यग्ज्ञानकी उपासनामें पुरुषार्थ करना, सम्यग्ज्ञानकी कथनीमें, चर्चामें आदर करना, सम्यग्ज्ञानके कारणभूत जो जिनशास्त्र हैं उनमें आदर भाव रखना, जिनवाणीमें निःशंक श्रद्धा बनाना, ये सब ज्ञानके साधन हैं। ये ही

हमें मार्ग बताने वाले हैं, ये सूर्यकी तरह पथप्रदर्शक हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञान के प्रति विनय जगना यह है ज्ञानविनय तथा ऐसे ज्ञानी संत पुरुषोंके गुणों के कथनमें उत्साहित होना. वहां वन्दन, स्तवन, आदर करना, सो भी ज्ञान विनय है। ज्ञानी पुरुषोंके उत्तम शास्त्र, कल्याणकारक वस्तुजिनागम सूत्र, यदि ये ग्रन्थ कहीं प्राप्त हो जायें, मिल जायें तो उनके समागममें बडे हर्ष विभोर होंगे। जैसे राजचन्द्रजीके जीवनकी घटनामें लिखा है कि जिस समय उनकी दूकानपर कोई पुरुष समयसार ग्रन्थ लेकर पहुंचा और समयसारका थोड़ा वाचन किया तो उससे प्रफुल्लित होकर अपनी दूकानमे जो कुछ हीरे, जवाहरत रखे हुए थे अथवा रुपये रखे हुए थे उनको खोवामे उठाकर दे दिये। यह क्या था ? यह ज्ञानविनयका रूप था। जिस शास्त्र से हमको ज्ञान प्राप्त होता है उस ग्रन्थके प्रति भी आदर जगना यह भी ज्ञानविनय है। मंदिरमे अथवा शास्त्रोकी संस्थावोंमे जो उनका संग्रह होता है उन्हें सभाल कर रखना है। इसमे भी तो ज्ञानविनय कारण हैं। ज्ञानके साधनोकी रक्षा बनाना यह भी ज्ञानविनयका अंग हैं। उन शास्त्रोका अनुवाद करना, लेखन करना, अर्थविवरण करना, प्रकाशमे लेना यह उससे भी अधिक ज्ञानविनयकी वात है। ऐसा ज्ञानविनयसम्पन्न अन्तरात्मा दर्शनविशुद्धिके प्रतापसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।

चारित्रविनय— तीसरा विनय है चारित्रविनय। अपनी शक्ति प्रमाण चारित्रको धारण करना, चारित्रमे हर्ष करना, प्रतिदिन चारित्रकी उज्जवलता करनेमें पुरुषार्थ करना, विषयकषायोंको घटवाना यह सब चारित्रविनय है। विनय करने वाला भी भाव है और जिसकी विनय की जा रही है वह भी एक भाव है। शुद्धभावोंमें सद्‌भावोंका मिलन होना, यह भी एक अपूर्व आकर्षक वातावरण होता है। जो चारित्रको धारण करने वाले पुरुष हैं उनके गुणोंमे अनुराग होना, उनको स्तवन वंदन करना यह भी चारित्रविनय है।

विनयसम्पन्नताका प्रभाव— जिस जीवका संसारके संकटोंसे छूटने का भाव बना है वह अपनी धुनका ही कार्य करेगा। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्‌चारित्र इनका एकत्व ही मोक्षमार्ग है, यह ही मोक्षमार्ग है, ऐसा जिसके श्रद्धान है, धुन बनी है उन पुरुषोंका सर्वस्व न्यौछावर कर देना बड़ी बात नहीं है, वह कहलाता है विनय। अपना तन, मन, वचन जुटा देना यह होता है दर्शनज्ञान और चारित्रके सम्बधमें विनय। विनय से विद्यामें निपुणता प्राप्त होती है। कोई कठोर हृदय वाला अभिमानी, उन्मत्त पुरुष धर्मकी थाह ले सके सो नहीं हो सकता है। शांति और संतोष

का अनुभवन कर सके ऐसा नहीं हो सकता है। विनयसम्पन्न पुरुष ही अपने आपमें स्पर्श कर सकता है, वह दूसरोंके हितमें सहायक हो सकता है।

तपविनय— एक विनय है तपविनय। तप कहते हैं इच्छाके रोकने को। जो पुरुष इच्छाको रोकता है और अपनी धुनके अनुसार शेष अवकाश, जब जब अवकाश है, तब ध्यान स्वाध्याय आदि तपमें ही उद्यम करता है, ऐसा पुरुष तपका विनय करने वाला कहा जाता है। अपने आत्मामें स्थिरता होनेके अर्थ ही ये अनशन आदिक समस्त तपोंके उद्यम हैं। एक यह शुद्ध आशय न बन सके और फिर कितने ही महान् तप करें, तपको करके भाव होता है कि दुनियाके लोग मुझे समझ जायें कि मैं कोई साधु हूं, तपस्वी हूं, लोग मुझे मानते हैं तो इतना मानने के अनुकूल मेरी स्थिति भी तो रहनी चाहिए। उसमें कमी न आये। न जाने कितना प्रयोजन हो जाता है उस अज्ञानी महापुरुषके, जिसको अपने संतोषपथका, शांतिमार्गका, मोक्षमार्गका परिचय नहीं है, अपने यथार्थस्वरूपका भान नहीं है। तपका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी सिद्धि है, उस ध्येयकी पूर्तिके अर्थ अनशन आदिक तपोंकी आस्था होना यह सब है तपविनय। ऐसा यहां भावोंके द्वारा भावोंका विनय बताया गया है।

उपचारविनय— अंतिम विनयका नाम है उपचारविनय। जो जीव सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके मार्गमें प्रवर्तने वाले हैं, जिनके सगसे, स्मरणसे वैयावृत्तिसे, उपदेशसे खोटे परिणाम विनष्ट हों, विशुद्धभाव प्रकट हों ऐसे परमेष्ठियोंकी मूर्ति आदिक नाम आदिककी स्थापना करना और उसमें विनय, वंदन, स्तवन करना ये सब उपचारविनय हैं। उपचारविनय भी अभिमान छोड़े बिना हो नहीं सकता। गर्वशील पुरुषोंको तो प्रभुमूर्तिके समक्ष भी झुककर वंदन करनेमें संकोच हो जाता है। चूँकि सभी लोग बड़ी भक्तिसे वंदना करते हैं और उनके बीच हम आ पड़े हैं। मान लो गर्वशील हम कोई तो खड़े ही खड़े बिल्कुल अटेन्शन थोड़ा हाथ जुड़ जाते हैं, तो उपचारविनय भी करना कठिन हो जाता है गर्विष्ठ जनोंको। धन जिन से प्राप्त हो उनसे बड़े विनयकी बात करना, नीचे बनकर बड़ा मुलायम व्यवहार करना, यह उपचारविनय नहीं है। यह तो संसारकी पद्धति है, पर विनयसम्पन्नता नामक भावनामें जो उपचारविनय कहा गया है वह पंचपरमेष्ठियोंसे सम्बन्धित नामके स्मरणमें, समारोहमें किसी भी सम्बन्धित तत्त्वमें अपना आदर करना, सिर झुकाना, सद्वचन होना, ये सब उपचारविनय हैं ये सब विनय उसके ही प्रकट होते हैं जो गर्व छोड़कर

निरभिमान होकर पदोंसे दूर होकर नम्र होता है।

नम्रताके रहस्यका एक दृष्टान्त— भैया! नम्र होनेके माथने नीचे जाना है। किसलिए नीचे जा रहा है यह ज्ञानी, जिससे बिछुड़ गया था उससे मिलने जा रहा है नीचेके रास्तेसे यह ज्ञानी पुरुष। जैसे गर्मीके दिनोंके सतापमें समुद्रका पानी समुद्रसे बिछुड़ जाता है और यह पानी आकाशमें मंडराने लगता है कठोर बनकर। जब तक कि यह पानी समुद्रमें था, द्रव, कोमल बनकर रह रहा था, ऐसा उसका स्वभाव था। जब वह अपने घरसे बिछुड़ा और उड़कर आसमानमें पहुंचा तो कठोर बनकर ऊपर मंडराकर गर्व कर रहा है। यह ही पानी जो बादलोंके रूपमें कठोर बनकर मंडरा रहा था। सुयोग पाकर नम्र बन जाय, द्रवीभूत हो जाय और उनके द्रवीभूत होनेसे उनके अपने श्रोतसे मिलनेका यत्न होने लगे अर्थात् पानी बरसने लगे तो वह पृथ्वी पर नीचे-नीचेके रास्तेसे बह बह कर उस ही समुद्रमें मिल जाता है जिस समुद्रसे यह बिछुड़ गया था।

परमार्थनम्रतासे आत्मलाभ— ऐसे ही यह उपयोग मेरा उपयोग मेरे स्वभावसे बिछुड़ गया। इच्छाके संतापसे तपनेके कारण अब यह आनन्दसमुद्रसे बिछुड़ गया, बाहर पहुंचा, बाह्य-पदार्थोंमें गया, कठोर बन गया अब। कोई विषयोंकी इच्छा करता हो, कोई विषयसाधनोंको जोड़ रहा हो, कोई अपनी पोजीशन सभालता हो, वहां उसके कठोरता ही आ जाती है। यह उपयोग कठोर बनकर बाहर बाहर मंडरा रहा है। कभी सुयोग आये और यह तत्त्वज्ञानकी ऋतुमें, वातावरणमें यह द्रवीभूत हो जाय और अपने आपके श्रोतसे निज घरसे मिलनेका यत्न करने लगे तो बरसता है अपनी ओर, फिर नीचेसे ढलकता है, नम्र होता है, यों नीचेके मार्गसे चलकर अर्थात् नम्र होकर अब यह उपयोग अपने ज्ञानानन्द समुद्र में मिल जाता है। अभिमानी पुरुषका आत्मप्रभुसे मिलन नहीं हो पाता है। जैसे कठोर बादलोंको आसमानमें ही मंडराना पड़ता है, समुद्रसे मिलन नहीं हो पाता, यों ही यह कठोर हृदय वाला अभिमानी गर्विष्ठ हो कर बाह्यपदार्थोंमें गिरकर, भागकर, कठोर बनकर मंडराता है। जब तक नम्रता न आयेगी तब तक शांति और संतोषका मार्ग न मिल सकेगा।

नम्रताका संदेश— भैया! किस पर गर्व करना? कौनसा यहां सारभूत पदार्थ है, कौन शरण है, स्वप्नवत् यह असार ससार है। जब यह शरीर भी मेरा साथी नहीं है, मेरा शरण नहीं है जो हमारे बहुत निकट का है, तब फिर अन्य पदार्थोंसे क्या आशा की जाय? अभिमान छोड़कर विनयशील बनना और अपने आपसे मिलनेके अर्थ अपने आपके स्वभाव

की ओर झुकनेरूप नम्रता आना, यह है विनयसम्पन्नता। ऐसे विनय-सम्पन्न पुरुष विश्वके प्राणियोंमें परम करुणाके भाव करनेके प्रसादसे वे धर्मनेता बन जाते हैं, ऐसे ही उत्कृष्ट पुरुष पुण्य प्रकृतिका बंध करते हैं।

३—शीलव्रतानतिचार

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना—तीर्थंकर प्रकृतिके बंधकी कारणभूत तृतीय भावना है शीलव्रतेष्वनतिचार। अहिंसा आदिक व्रतोंमें और उनके पालनेके अर्थ कषायोंके त्याग कर देने रूप शीलोंमें जो निर्दोषताकी प्रकृति है उसको कहते हैं— शीलव्रतेष्वनतिचर, शीलमें और व्रतमें कोई दोष नहीं लगाना ऐसा यत्न होना और ऐसी भावना बनी रहनी चाहिए। स्वानुभूतिके लिए पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान हो जाना इतना ही मात्र कार्यकारी नहीं हैं, किन्तु वास्तविक चारित्र होना स्वानुभूतिके लिए कारण पड़ता है। स्वानु-भूतिका अर्थ है निज सहज स्वभाव, जो ज्ञानानन्दमात्र है उसमें दोषका न आना, उसमें स्थिरताका होना, सो चारित्र है।

शीलव्रतानतिचारकी आवश्यकता-- जब तक यह आत्मा यथार्थ परिज्ञान करके अपने इन्द्रिय मनको संयत नहीं करता और निजस्वभावमें उपयोगको स्थिर नहीं करता तब तक स्वानुभूति प्रकट नहीं होती। स्वका अनुभवन होना और स्वका ज्ञान होना इन दो बातोंमें अन्तर है। स्वका ज्ञान करना ज्ञानसाध्य बात है और स्वका अनुभवन होना यद्यपि यह भी ज्ञानकी पर्याय है किन्तु ऐसा विशुद्ध ज्ञान परिणमन अपने आपको अंत. संयममें ढाले बिना प्रकट नहीं होता। इस कारण स्वानुभवके अर्थ, आत्म-कल्याणके अर्थ संतोष और संतोषके अर्थ शील और व्रतमें दोष न लगाना ऐसा यत्न करना आवश्यक है। उपयोग ही तो है यह। जो उपयोग पापों में लगता है उस उपयोगमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने व्र. स्वरूपका अनुभवन कर सके। इसके लिए तो बड़ी सावधानी की जरूरत है।

कुशीलकी प्रबल बाधकता— शील नाम आत्मस्वभावका है। आत्म-स्वभावका विघात करने वाले हिंसा आदिक ५ पाप हैं। उन ५ पापोंमें भी इस प्रसगमें कुशील नामक पाप, कामसेवनकी वासना यह उन पापोंमें प्रधान है, और यह कुशील पाप समस्त पापोंको पुष्ट करता है। यद्यपि सभी कषाय आत्मस्वभावके अवलोकनके बाधक हैं, फिर भी वासना, सस्कार इस कुशील नामक परिग्रहका पाप अधिक खोटा बन जाता है। क्रोध आया, अपनेको न सभाल सके, कुछ क्रोधरूप परिणति हो गयी, ठीक है किन्तु वह क्रोध अपने आपमें गाठ बाधकर नहीं रह पाता कि रात

दिन उसका संस्कार बना रहे। हो गया जिस किसी समय हो गया, ऐसे मान कषाय भी हो जाती है, हो गयी, पर उसकी निरन्तर वासना बनाए रहें, यह कुछ काम हुआ करता है। पर लोभ कषायमें और लोभ कषाय से होने वाले अन्य कषायों और इसमें भी प्रधान स्पर्शन इन्द्रियके विषय के साधनमें जो वासना होती है वह वासना इसकी मूलमें ही बिगाड़ करती हुई होती है। इस वासनासे आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि देनेका कम अवसर होता है। उन समस्त पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ अंतरात्मा ज्ञानी पुरुष अपने शील व्रतोंमें निर्दोष आचरण करता है।

शीलकी सम्पन्नता— शील अथवा ब्रह्मचर्य दुर्गतिके दुःखोंको दूर करने वाला है, और शुभगतिकी प्राप्तिका कारण है। शील हो तो तप, व्रत आदि सब जीवित रहते हैं। जैसे कोई पुरुष वेश्यागामी हो, परस्त्रीगामी हो, विषयलोलुपी हो और वह पूजन अभिषेक आदिक कामोंमें अपना लगाव दिखाये तो पहिचानने वाले जानते ही है कि इसकी ये सब बातें ढोंग भरी हैं। वासना तो कामविषयक निरन्तर इसके बनी रहती हैं। शील यदि नहीं है तो तप करना, व्रत धारण करना, नियम पालन करना ये सब व्यर्थ हैं। जैसे जब जान नहीं रही तो शरीर मृतक है, वह केवल दिखने भरकी बात है, कार्यकारी नही है। ऐसे ही जो शक्तिरहित है, कामसेवनका लम्पटी है ऐसा पुरुष बाह्य तप, व्रत, सयम भी पालन करे तो भी वह मृतकके समान दीखने भरका हो जाता है। वह कार्यकारी नहीं है बल्कि धर्मकी निन्दा कराने वाला है। ज्ञानी, विवेकी पुरुष इस शील नामक धर्मका दृढ़तासे पालन करते हैं, वे अपने इस चंचल मनपक्षीको स्वच्छन्द नहीं विचरने देते है, उसका दमन करते हैं। यों अतिचाररहित शुद्धशीलका पालन करने वाले ज्ञानी संतपुरुष जगत्के जीवों पर संकट हरण सम्बन्धी परमकरुणाका भाव करते हैं और उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

मनहस्तिकी उद्दंडता— यह मनरूपी हाथी जब स्वच्छन्द हो जाता है, अपने स्वरूप स्थानसे चलित हो जाता है तो यह महाअनर्थ उत्पन्न करता है, पापोंका कारण बन जाता है। जैसे कोई मदमत्त हाथी हो तो वह अपने स्थानको छोड़कर खूटेको तोड़कर बाहर भाग जाता है ऐसे ही यह मन जब कामवासनासे उन्मत्त हो जाता है तो समतापरिणामरूप अपने आत्मके स्थानसे हटकर बाहर भागता है। जो शीलरहित पुरुष है वह कुलकी मर्यादाको भी छोड़ देता है, शान्ति तो उसके हृदयमें पनप नहीं पाती है। जैसे मदोन्मत्त हाथी सांकरको तोड़कर भाग जाता है, ऐसे ही

यह मन सुबुद्धिकी शृङ्खलाको छोडकर भाग जाता है। 'कामी जाने न जानि कुजाति।' जो स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें लम्पट पुरुष हैं उन्हें अपने आपकी कुछ सुध नहीं रहती है। इस कामवासनासे पीड़ित हुए पुरुषकी १० खोटी अवस्थाएँ होती हैं, रुचिपूर्वक विषयसाधनको देखना, मनमें उसकी कल्पना बनाए रहना, न मिलने पर अपनी श्वासें फेंकना, भोजन पान न रुचना और उस कामके भावसे ज्वर आदिक रोग हो जाना, कुछ भी न सुहाना और कहां तक कहा जाय, अंतमें मरण भी हो जाय ऐसी स्थिति हो जाती है स्पर्शनइन्द्रिय विषयके लम्पटी पुरुषकी। इस कामवासना वाले पुरुषके सुबुद्धि नहीं रह पाती है।

अविवेकी मनकी उच्छृङ्खलता— जैसे मन्दोन्मत्त हाथी हो तो उसका जो चलाने वाला है, महावत है उसकी भी खैर नहीं रह पाती। ऐसे ही जिसका कामी मन है वह सन्मार्गमें चलने वाले ज्ञानीको भी बरबाद कर देता है। उस ज्ञान विवेकी की भी खैर नहीं रहती। शीलके विरुद्ध चलनेमें कितनी हानि है? प्रथम तो वह अपना आत्मबल और शरीरबल समाप्त करता है और फिर कामके विषयसाधन मिल गये तो उनके भोगनेमें कहीं शांति और संतोष थोडे ही मिलता है। अनेक अनर्थ शीलके भग करनेमें हैं। जैसे हस्ती जो मदोन्मत्त है वह अंकुशको भी नहीं मानता है ऐसे ही जो मनरूपी हस्ती है वह भी गुरुवोंके शिक्षादायक वचनोंको भी नहीं मानता है। ऐसा है यह अविवेकी मदोन्मत्त हाथी कि छायावान, फलवान, वृक्षको भी उखाड़ कर फेंक देता है। यों ही है यह काम वासना कर व्याप्त मन वाला यह कामी पुरुष, यह ब्रह्मचर्यरूपी वृक्षको उखाड़ कर फेंक देता है जो ब्रह्मचर्य समस्त विषयनके आतापको दूर करनेमें समर्थ है, जिस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे यश चारों ओर फैलता है, जो स्वर्गके मोक्षके महान फलका देने वाला है ऐसे ब्रह्मचर्यवृक्षको उखाड कर फेंक देता है यह कामवासनासे पीड़ित प्राणी।

मन मतंगकी मूढता— अहो इस मतवाले हाथीमें कहां विवेक है? यह कदाचित् सरोवरमें स्नान भी करले तो स्नान कर चुकनेके बाद बाहर आते ही सूंड़से धूल अपने आप पर फेंक लेता है और ज्यों का त्यों गन्दा बन जाता है। ऐसा जिसका मन काम बाण करि पीड़ित है वह कदाचित् इस ज्ञानरूपी सरोवरमें स्नान भी करनेका अवसर पाये तो थोड़ी ही देर पश्चात् अज्ञानरूपी मैलको यद्यपि थोडे समयको धो डाला था लेकिन पापके परिणामोंमें रहकर स्वच्छताका एकदम विनाश कर डालता है।

सच बात तो यह है कि कल्याणार्थीके परिणाम ही चलक्षण होते हैं।

जैसे संसारके व्यामोही पुरुषके प्रोग्राम एक मूल संसार जड़को पुष्ट करने वाले होते हैं तो कल्याणार्थी पुरुषके प्रोग्राम हितके लिए होते है। कल्याण हो, आत्मदृष्टि जगे, संतोष हो, यदि ऐसा नहीं हो सकता तो इस जीवका कही भी हित नहीं है। जैसे हाथीके कान अत्यन्त चचल होते हैं, स्थिरता से रह ही नहीं सकते, यों ही कामी मन वाले पुरुषकी इन्द्रियां अत्यन्त चचल होती हैं। यह मन भी उन इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेमे चंचल बना रहता है। इस मनको कविजनोंने मदोन्मत्त हाथीकी उपमा दी है। जैसे मदोन्मत्त हाथी बरबादी पर उतारू रहता है ऐसे ही यह मन भी इस जीवकी बरबादी पर उतारू रहता है। जैसे हाथी हस्थिनियोमे रमा करता है ऐसे ही यह कामी पुरुष कुबुद्धिमें रमा करता है। यह मन स्वच्छंदतासे डोलता रहता है। जैसे उस मदोन्मत्त हाथीके पासमे कोई पुरुष पहुच नहीं सकता है ऐसे ही इस कामी मनके समीप कोई गुण नही पहुच सकता है।

मन मतंगका स्तम्भन— लोकमें कहावत है कि जो लगोटका सच्चा हो और हाथका पक्का हो उसे कहीं विपत्ति नहीं है। यदि इन दोनो ही बातोंमे वह कच्चा है, शिथिल है, चलित हो जाता है तो ऐसे पुरुषके पास कौन गुण आकर रहेगा? कोई नही रह सकता। अहो कैसा है यह स्पर्श का विषय प्रसंग? इसमे इस जीवको कुछ नहीं मिलता है, बल्कि सब कुछ गँवा देनेकी बात है, लेकिन ऐसे ही मोह रागद्वेष काम अवगुणोमे यह जीव अविवेकके कारण रमा करता है। भाई हाथी मतवाला हो गया है तो किसी उपायसे उसे दृढ़ खम्भेसे बांध दो, यही तो यत्न किया जाता है। ऐसा ही यह मन महा अनर्थ करने वाला मदोन्मत्त होकर यत्र तत्र विचर रहा है। अपना हित चाहते हो तो ऐसे यत्र तत्र विचरने वाले मनको अपने वश करो। वशीकरणका सीधा ही तो उपाय है। वस्तुका यथार्थ-स्वरूप जानें और निज स्वभावकी सतत् भावना करें। फिर तो सर्व शंकाएँ इसकी दूर हो जायेंगी।

कामकी अनङ्गता व मनोजमात्रता— इस कामको क्या बतायें? इसके जितने नाम हैं उन सब नामोसे शिक्षा मिलती है। इस कामका नाम अनग है अर्थात् अगरहित है, शरीर नही है, कोई इसके शरीरके अवयव भी नहीं हैं, फिर भी यह मन-मनसिज है। मनमें इसका जन्म हो जाता है। यह काम कोई क्षुधा प्यास जैसी नियमित वेदना नहीं है। न कहीं खाने की जैसी क्षुधा बढती है, न प्यास जैसी वेदना बढ़ती है, यों ही कुछ शरीर के थकानसे या अन्य बातसे नियमितता आ जाय कि भाई कामकी वेदना होना प्राकृतिक ही है सो नहीं है। यह तो मनसिज है। कायरपुरुषोंमें काम

की वेदना विशेष हुआ करती है वीरोंमें नहीं। इसका कोई रगढंग ही नहीं है। यह तो मनसिज है। जब मनमें बात आयी कि कामवेदना जागृत होती है। ठंडी, गरमी, भूख, प्यास इनका तो कुछ अनुमान हो जाता है, कुछ युक्तियां चल जाती हैं, कुछ भविष्यके आसार भी नजर आ जाते हैं पर इस कामवासनामें तो कुछ भी अंदाज नहीं हो पाता। जब कभी मनमें आया तो यह उद्दण्डता करने लगता है। इसको मनसिज कहते हैं। इसका मनमें ही जन्म है। जिसका न अङ्ग है और न रङ्ग ढङ्ग है उसका क्या पल्ला पकड़ना?

कामकी मन्मथता, संवरारिता व कन्दर्पता— इस कामका नाम मन्मथ भी है। जो मनको, ज्ञानको मथ डाले उसे मन्मथ कहते हैं। जिसका हृदय कामकी वासनासे व्यथित है ऐसे पुरुषको अशांति और शांति का आधार कैसे मिल सकता है? इसका नाम सवरारि भी है, सवरका अरि अर्थात् आत्महितका दुश्मन। जिस काल स्पर्शनइन्द्रियके विषय भोगोंकी वृत्ति जगती है उस काल तो इस जीवकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। वहां फिर सवर, अनाकुलता कैसे प्राप्त हो? इसका नाम कंदर्प भी है। कामके कारण जो दर्प होता है, घमंड उपजता है, जिसके कारण बड़ी दयनीय स्थिति बनती है वही तो कंदर्प है। इस कामके कारण तिर्यञ्च तिर्यञ्च आपसमें लड़कर मर जाते हैं और तिर्यञ्च ही क्या मनुष्य मनुष्य लड़कर नहीं मर जाते क्या? किस बात पर मर गए? न कुछ बात पर, बेवकूफी की बात, मूढ़ता की बात, अहितकी बात। विषयसाधनोंमें जो रुचि करते हैं उनकी अन्यत्र कहां पैठ हो सकती है? एक सूई दो जगह नहीं सी सकती है कि पूरब दिशाकी ओर भी सीवे और पश्चिम दिशाकी ओर भी सीवे। ऐसे ही समझो कि जो खोटे विचार हैं, कामवासनाके भाव हैं उनसे कहीं आत्मीय आनन्द मिल सकता है क्या? न तो इस लोक का भी आनन्द रहेगा, न परलोकका भी आनन्द रहेगा और न मुक्तिका ही आनन्द मिल सकेगा।

कामसाधनाङ्गोंकी गुह्यताका कारण कामकी दोषपूर्णता— देखो भैया! अन्य-अन्य विषयोंके साधनोंमें जो कारण पड़ते हैं ऐसे ही सारी इन्द्रियां जो प्रकट रूपसे दीखती हैं इन्हें छिपानेका कोई यत्न नहीं करता। इन आंखोंको ढकनेका कोई यत्न नहीं करता, न उसमें कोई बुरा मानता। लोकव्यवहारमें आखोंके देखनेमें लाज नहीं आती है। नाकके देखनेमें लाज नहीं आती। मुँह तो बिल्कुल सामने धरा है, इसको देखनेमें लाज नहीं आती। कान तो सदा एकरूपसे अड़े भये खड़े हैं। इनके देखनेमें

लाज नहीं आती, किन्तु कामके साधक जो अंग हैं उनका नाम बोलनेमें ही लाज आती है। ऐसे इस शीलविरोधी पापके कारण कितनी बरबादी हो रही है, जब अधिक आसक्ति हो जाती है तो कहते हैं लाज भी नहीं रही। एक ऐसी किम्वदंती प्रसिद्ध है कि जो पुरुष, स्त्री इस कामके प्रसंगमे लाज-रहित होकर प्रवृत्ति करते हैं वे मरकर कुत्तोंका जन्म लेते है। कामके अग का नाम लेनेमे भी लाज आती है, लिखनेमे भी लाज आती है और तो देखो अन्य विषयके साधनोंको छुपानेकी जरूरत नहीं पड़ती, आखोंसे देखते हैं, सबके सामने देखनेमे कोई भयकी बात नहीं है। शब्दोंको सुनते हैं। तो यों समझिये कि कामकी साधना कितनी दोषपूर्ण चीज है? इसको त्याग करके शीलका निरतिचार पालनेमे ज्ञानी पुरुषकी भावना रहती है।

परमार्थ ब्रह्मचर्य— यह ज्ञानी निकट भव्यशीलके सम्बंधमे निर्दोष पालनेकी भावना रख रहा है। जो शीलवंत पुरुष हैं उन्हे इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। शीलवान् पुरुषमें ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र शोभित होते हैं। ब्रह्म नाम है आत्माका व आत्मस्वभावका उसमे चलना, रमण करना इसका नाम है ब्रह्मचर्य।

कुशीलकी ब्रह्मबाधकता— ब्रह्मचर्यके बाधक सभी पाप हैं, सभी कषाये हैं किन्तु उन ५ पापोमे कुशील नामका पाप ब्रह्मचर्यको पात्रता भी न रहने देने वाला एक विरोधीभाव है। जैसे अन्य कषायोंके अन्य विषयों के भोगते हुए में आत्माकी खबर कदाचित् रह सकती है। भोजन कर रहे हैं तब आत्माकी विवेकीजन खबर रख सकते है, अन्य समयोंमें भी खबर रख सकते हैं। कर्णोंसे सुन रहे हैं गीत संगीत, वहां भी इस आत्माकी खबर रख सकते हैं, कोई आध्यात्मिक भजन हो, धार्मिक संगीत हो तो उसके माध्यमसे तो बहुत कुछ खबर रखी भी जाती है किन्तु स्पर्शनइन्द्रिय के विषयमें कामभोगमे तो इस आत्माकी खबर रहनेकी पात्रता नहीं हो पाती है। इस कारण कुशील शब्दसे शारीरिक व आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यके घातकी प्रसिद्धि है और तत्सम्बंधी दुर्भावनाओंकी प्रसिद्धि है।

शीलका महत्त्व— शीलवान् पुरुषको सब आदर देते है। कोई शील करि सहित हो और रूपसे रहित हो, रोगग्रसत हो तो भी वह अपने वातावरणसे, अपने संसर्गसे समस्त पुरुषोंको मोहित करता है अर्थात् शीलवान् पुरुष पर सभी लोगोंका आकर्षण रहता है, शीलवान् पुरुष सभीको सुखी बनाता है। शीलरहित अर्थात् व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेवके तुल्य भी रूपवान् हो तो भी लोकमें सब उसे धुतकारा करते हैं। जो कामी पुरुष है, धर्मसे चलित हो जाता है, आत्माके स्वभावसे विचलित हो जाता है,

व्यवहारकी शुद्धतासे भी विचलित हो जाता है उसका ही नाम व्यभिचारी है। व्यभिचारके समान अन्य कोई कुकर्म नहीं है। ऐसे इस शीलमें व शीलसारक व्रतमें निर्दोष रहनेकी भावना ज्ञानी पुरुषके रहती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष जब विश्वके प्राणियोंपर परमकरुणाका भाव करते हैं तो उन के तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

४—अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग— तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें चौथी भावनाका नाम है अभिष्ट ज्ञानोपयोग। निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रहे ऐसी भावना और ऐसी कोशिश रहती है इस ज्ञानी पुरुषको। अभीष्ट ज्ञानोपयोगका क्या वर्णन करें, कितना निर्दोष अनुष्ठान है यह निरन्तर ज्ञान की आराधना करना। जीवका धन, जीवका प्राण ज्ञान है, जो जीवका साथ नहीं छोड़ता है। ऐसे इस ज्ञानकी उपासनाके कारण जगत्में अन्य कुछ व्यवसाय ही नहीं है। सद्बुद्धि आये तो यह भाव बनता है कि मैं ज्ञानके अर्जनके लिए अथक प्रयत्न करूँ।

काल्पतजड़ धन और ज्ञानधनमें अन्तर— धनका अर्जन सहज थोड़े पुरुषार्थसे जैसा होता है होने दो, किन्तु ज्ञानके अर्जनमें अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ भी समर्पित कर दिया जाय और एक ज्ञान प्राप्त हो जाये तो सब कुछ पा लिया समझिये। धन तो उदय अनुकूल हो तो मिलता है, न प्रतिकूल हो तो कितना ही श्रम करें नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि मिल भी जाय तो भी शत्रु बाधक अनेक हैं। न भी कोई बाधक हो, धन मिल भी जाय तो भी उसमें रागभाव करके आकुलता ही रहती है जानी है, और अंतमें तो यह धन साथ जाता ही नहीं है। मृत्यु हो गयी, तो साराका सारा धन छोड़कर चला जाना होता है। कौनसा लाभ लूट लिया इस धन वैभवसे और आकुलता चिंताएँ जो मोल ली हैं वे सब व्यर्थ ही मोल ली हैं। किन्तु ज्ञानधन ऐसा धन है कि जिसे चोर न चुरा सके, राजा न बाट सके, मरने पर भी साथ जाय, संस्काररूपमें जाय। ज्ञान जागृत है तो संतोष रहता है, शांति रहती है। ऐसे इस ज्ञान की अर्जनामें जिसका निरन्तर उपयोग लगा रहता है ऐसे पुरुषकी महिमा क्या बताई जाय?

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसे मानवजन्मकी सफलता— भैया! कितना दुर्लभ यह जन्म है, फिर भी ऐसे कठिन मनुष्यभवको पाकर गप्पोंमें लगाना गाड़ियोंमें ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न जड़ पौद्गलिक

धन वैभवके संचयमें, उनकी कल्पनामें समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञानके लिए समय न देना, इससे बढ़ कर खेदकी बात और क्या हो सकती है ? आत्मन् ऐसा सुअवसर पाकर, जहां श्रेष्ठ मन मिला है, जहां इन्द्रियां व्यवस्थित हैं, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञानका सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसरको पाकर हे आत्मन् ! तुम ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञानके अभ्यास बिना एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमें होती है।

अपना वर्तमान परिचय— भैया ! कुछ अपना परिचय भी प्राप्त करके देख लो कि जितना समय ज्ञानकी दृष्टिमें व्यतीत होता है उतना समय कितना सुन्दर सफल आनन्दमय व्यतीत होता है, और जितना समय किसीसे मोह राग करनेमें, बाह्यपदार्थविषयक गप्प-सप्पमें व्यतीत होता है, उतना वहां किस प्रकार परिणाम जाता है ? मिला क्या और बल घटा, आत्मशक्ति घट गयी। अत: एक ध्यान रक्खो यदि इस संसारके संकटोंसे छूटना है तो भावना बनावो कि मेरा ज्ञानकी अर्जनामें विशेष उपयोग रहे। जैसे समय मिलेगा तो शास्त्रमें पहुचेंगे, ऐसा प्रोग्राम रहता है, बजाय इसके यह प्रोग्राम हो जाय कि मुझे समय मिलेगा तो दूकान, धन, अर्जन या विषयवार्तामें चलेंगे। मेरे पास इनके लिए समय ही नहीं है। अब धर्मसाधना करना, पूजन करना, घंटा दो घंटा शास्त्र स्वाध्याय करना, चर्चा करना इनमें ही समय विशेष लगेगा, ऐसा गृहस्थजनोंको सोचना चाहिए। समय मिले तो हम कुछ अमुक व्यापारमें भी चित्त दें। जितना समय मिलता है उतनी देर दूकानका काम करता है। कोई कहे कि भाई एक दो काम और बढ़ा लो, तो उत्तर यह मिलेगा कि मेरे पास इतना समय ही नहीं है कि मैं कोई दूसरा रोजगार करूँ।

समयका विवेक— अब समय कहां जाना चाहिए अपना ? ज्ञानोपयोगमें, धर्मसाधनामें। अपनी-अपनी सब बातें देख लो, किसीकी ६०वर्ष की अवस्था हो गयी किसीकी ४० वर्षकी, धन संचयमें, परिवारसे गप्पोंमें रिश्तेदारोंके बीच बैठकर शान बगरानेमें, अपनी पोजीशन बगरानेमें इतना समय बिता डाला उसके फलमें पास क्या है सो तो बतावो ? कुछ भी शांति पायी हो तो बतावो। जैसे अभी तक कोई भी संतोषकी बात नहीं पायी जा सकी तो अब समझो कि शेष जीवनका समय भी इन कार्यों में बिता दिया तो आगे भी यही हाल होगा। सम्यग्ज्ञानके अर्जनमें समय व्यतीत होनेकी भावना होनी चाहिए। यदि ज्ञानका अभ्यास नहीं है तो उस मनुष्य को पशुवत् मान लीजिए। अज्ञानी है वह।

धर्मकी सुविधा, किन्तु अज्ञानीका व्यामोह— भैया ! ज्ञान और धर्ममें कुछ अन्तर नहीं है। केवल एक अनुपान जैसा अन्तर है। ज्ञानका ज्ञान बना रहना, उस ज्ञानके साथ रागद्वेष कलुषता न आने देना बस यही तो धर्मका पालन है। कितने विषादका विषय है कि समस्त परद्रव्य सर्व परजीव जो मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, जिनसे मेरा रंच भी हित नहीं है, जिनको ये मोही समझ रहे हैं यह पुत्र, यह स्त्री, यह पति यही तो मेरे सब कुछ हैं और लोग तो सब गैर हैं। कितना अंधेरा मचा रक्खा है इस व्यामोही ने कि कुछ हितकी बात नहीं मिलती है, फिर भी यह जीव अहित में ही राजी हो रहा है और वहां ही चैन मानता है।

ज्ञानाभ्यासके उपाय— यह ज्ञानाभ्यास कैसे हो ? जो योग्य काल हैं उनमें जैन आगमका पाठ करो। किसी अपने से बडेको गुरु मानकर उससे शिक्षा ग्रहण करो, और ज्ञानके अर्थ गुरुजनोंमें नम्रता, अभिनन्दन, विनय आदिक करो। जितना हृदय नम्र बनेगा, जितना विनयशील हृदय बनेगा उतना ही ज्ञानका प्रवेश होगा। विनयमें ज्ञानके आकर्षणकी शक्ति है, ज्ञानाभ्यासके अर्थ ज्ञानका सहायक यह काम है विनयपूर्वक रहना। ज्ञानोपयोगके ५ साधन हैं—(१) शास्त्रको बाच कर अर्थ विचार कर अपने आत्माके स्पर्शका यत्न करना। (२)कल्याणके भावसे दूसरोंसे कुछ पूछना। पूछनेके दो कारण हुआ करते हैं सम्यग्दृष्टि पुरुषके। प्रथम तो यह कि जिस विषयमें जानकारी नहीं है जानना चाहता है उसको पूछा जाता है, दूसरे यह कि जिस बातको जानता है उसमें कुछ थोड़ासा संदेह हो तो उसको मिटानेके लिए और अपनी जानकारीके तत्त्वको दृढ करने के लिए पूछा जाता है। कोई दूसरेकी परीक्षाके लिए पूछे तो वह धर्ममें शामिल नहीं है, स्वाध्यायमें शामिल नहीं है अथवा मैं लोकमें कुछ बड़ा कहलाऊँ ऐसे भावसे पूछे तो वह भी धर्ममें शामिल नहीं है। (३) बार बार विचार करना, भावना करना, चिंतन करना यह ज्ञानाभ्यासका मार्ग है। (४) किसी गुरुसे विद्या पढना उसमें धार्मिक विषयको याद करना यह भी ज्ञानाभ्यास के उपायमें शामिल है। (५) दूसरे जीवोंको धर्मका उपदेश देना यह भी ज्ञानके उपयोगमें शामिल है। धर्मोपदेशसे भी निजज्ञानीकी दृष्टिका अभ्यास बढता है।

सुखका यत्न— सुख तो सभी चाहते हैं, दुःख कोई नहीं पसद करता है। पर एक बार भी तो जो सुखका वास्तविक कारण है उस कारणमें जुट जावो। अनादि कालसे अब तक अनन्त भव पाये हैं जिन भवोंमें इस जीवने नाना विषयसाधन पाये, नाना मित्रजन पाये, बड़े-बड़े वैभव पाये,

किन्तु वे सबके सब छूट गए। आज कोई भी वैभव अपने काम नहीं आ रहा है, फिर इस वैभवके पीछे इस मायामयी इज्जतके पीछे अपने आपको क्यों सताया जा रहा है? सुख शांति आरामसे एक क्षण भी नही बिताया जा रहा है। शांतिके अर्थ इस बातका निर्णय करें कि हमे अपने जीवनमें ज्ञानकी उत्तरोत्तर प्रगति करना है। मत सुनो किसी की नाहक बातें। समय निकले घंटा डेढ घंटेका तो उसे स्वाध्यायमे लगावो, कुछ समय तक गुरुजनोसे पढो। हर्ज ही इसमे क्या है? रोज-रोजके जीवनमें दो तीन घंटा ज्ञानार्जनमे व्यतीत हो जाये तो क्या हर्ज है?

समयका सदुपयोग आवश्यक कर्तव्य— भैया! अगर १८ घंटे आप धन कमा सकते हो तो उसमें भी हमे खुशी है। खूब कमावो, उसे लेकर कहां जाओगे, वह तो हम लोगोंके काममें याने धर्ममे ही काम देगा, या जो आपके उत्तराधिकारी हैं, जो कि वे भी सर्वभिन्न है उनको छोड़ जावोगे तो अच्छी बात है। खूब आप धन कमावो, तृष्णामें मरे जावो, आपसे आपका बड़ा उपकार हो रहा है, अगर १८ घंटे कमा सकते हो तो कमावो अन्यथा गप्पोंमे तो समय न लगावो, व्यर्थमें तो समय न खोवो। अरे १८ घंटे कमाता कौन है? कमानेके भी २-४ घंटे और खानेको भी वेही २-४ रोटी। २४ घंटेमे २ तीन घंटे कोई अधिक नहीं होते हैं, अतः ज्ञानार्जनमें समय व्यतीत होना चाहिये। हां एक बात है—एकही पद्धतिसे हम ज्ञानका अर्जन करें तो उसमे मन नहीं लगता है। सो आप इन सब पद्धतियोको अपनावो, पौन आध घंटे तक शास्त्रसभा करो उसमे सुनो अथवा पढो, एक आधघंटा अपने से बड़ा जिसे मान रक्खा हो, अपने ही गांवका जो कोई ज्ञानी पुरुष हो उससे कोई ग्रन्थ पढने लगो, न भी कोई ज्यादा ज्ञानी हो तो भी यदि समझमें आवे कि हमसे अधिक यह ज्ञानी है उसीको अपना बनालो। इतना तो किया ही जा सकता है कि आधा या चौथाई पन्नेका पाठ ले लिया और फिर याद करके दूसरे दिन सुनायें।

सत्कृत्य करने लगो— एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मूर्ति बनाकर अपने आप ही कह सुनकर धनुष विद्या सीख ली थी। हां महाराज इस दिशामें तीर चलावें? हां हां चलावो। लो गुरु शिष्यमे बात हो गयी। वहां जंगल मे है कोई नहीं केवल एक मिट्टीकी मूर्ति बनी हुई थी। गुरुकी आज्ञा मानते जा रहे हैं और अपने आप ही हां करते जा रहे हैं, ऐसी गुरुभक्ति करके उन्होंने धनुष विद्या सीख ली थी। यह सब कथा सभी लोगों को विदित ही होगी, तो फिर हम अपने से किसी बड़े को अपने से बड़ा मान लें, आखिर चेतन ही तो हैं वे, ज्ञानवान् ही तो है। उनको गुरु मानकर शिक्षक मान

कर फिर उनसे विद्याभ्यास करें तो इसमें कौनसी हानि है ? अभी दो बातें बतायीं—पहिली तो शास्त्रसभाकी बात और दूसरे किसीसे कुछ पढ़ लिख लेनेकी बात, तीसरे कुछ एकांतमें अलग बैठकर स्वयं ही किसी ग्रन्थ का स्वाध्याय करो। चौथी बात कुछ लिखना भी शुरू करो, विचार बनावो जो समझा है उसे लिखो। यह लेखन भी ज्ञानसाधनामें बड़ा सहयोग देता है और एक बात है तत्त्वचर्चा करो। ऐसे अनेक उपाय बनाकर इस ज्ञान की साधना करिये। ज्ञानकी उपासनासे ही शांति और संतोष मिलेगा। यों अपने कल्याणके अर्थ। अपने आत्माकी पवित्रताके अर्थ ऐसी भावना बनायें और कोशिश करें। करेका ही सब कुछ मिलता है। ज्ञानके अर्जनमें सारा अनेक उपायोंसे समय व्यतीत हो ऐसे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगकी जिसकी भावना है ऐसा पुरुष विश्वके जीवोंपर परमकरुणाका भाव करता है तो वह तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।

उपयोगका सारभूत और असाररूप आश्रय—जीवका लक्षण उपयोग बताया गया है। जीवका उपयोग कहीं न कहीं लगा ही रहता है। विषयकषायोंमें लगो, धर्मसाधनामें लगो अथवा ज्ञानके स्वरूपमें लगो, कहीं न कहीं उपयोग लगा ही रहता है। जो उपयोग ज्ञानके स्वरूपमें लगा होता है उसे कहते हैं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अथवा जो ज्ञानकी वार्ताओंमें लगा रहता है वह भी अभीक्ष्णज्ञानोपयोग। इस जगतमें बाहर कहीं कुछ सार नहीं है। केवल मोहवश अज्ञानी लोग कल्पनाएँ बनाया करते हैं। यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह सम्पदा है, पर आत्माका तो आत्माका स्वरूप ही है। जो आत्माके साथ अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगा वही अपने आत्माकी चीज है। जो आत्माकी वस्तु नहीं है ऐसे भिन्न पर-पदार्थोंमें अपना उपयोग लगावो तो वहां क्लेश ही हाथ आता है। परवस्तु में आनन्द है कहां, जिससे परवस्तुके उपयोगमें आनन्द मिले। किन्तु ज्ञान-स्वरूपका उपयोग बने, अपने आत्माके स्वरूपमें उपयोग जाय तो वहां वास्तविक आनन्द मिलता है।

व्यामोहियोंकी परेशानी और निर्मोहियोंकी धुन— भैया ! यहां तो परेशानी लोगोंको यह मालूम होती है कि लाखोंका धन वैभव कमाया मुश्किलसे और मरने पर दमड़ी भी साथ नहीं जाती है। इस घटनाके कारण सबके घुटने टिक गये। खूब बोल लेते हैं हर बातमें। अपने पुण्य का परपाटा भी दिखाते हैं पर सबके लिए यह एक ही बात है कि मरने पर जीवके साथ कुछ भी नहीं जाता है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती महापुरुष समस्त वैभवको त्याग कर एक आत्माके ज्ञानस्वरूपके ज्ञानमें ही लगे और इस

बलसे उन्होंने अपना उद्धार पाया। उन महापुरुषोंको बड़े-बड़े वैभवमें कुछ भी आनन्द न आया और एक ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें ही उन्हें आनन्द आया। राजपाटको छोड़कर मुनि हो गये। उन्हें मुनिपदमें आनन्द न आता तो मुनि अवस्था छोड़कर घर पर पहुंच जाते, और तब तो परिवारके लोग बड़ी खुशी ही मनाते। पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा जो कि राजपाट, धन, वैभवको त्यागनेके बाद फिर दुबारा घर आया हो। तो मालूम होता है कि वैभवके सुखसे भी अनन्तगुणा आनन्द उन्हें निर्जन स्थानमें अपने आपके ध्यानमें मिला। इसी कारण वे उस आनन्दको छोड़ कर फिर घर नहीं गये।

ज्ञानयोगकी सुगमता— अन्तरात्मा पुरुषकी ऐसी भावना रहती है कि अनादिकालसे अब तक काम, क्रोध, मान, माया, लोभके संगमें समय बीता, अब मेरा उपयोग भगवान्के गुणगानमें लगे। देखिये जैसे जाड़ेके दिनोंमें तालावके किनारे नहाने वाले लड़के बैठे हैं, तालावका जल ठंढके मारे छुवा नहीं जाता है, थोड़ा पैर पानीमें लगाया फिर वापिस लौट आनेकी इच्छा होती है। कोई बड़ी हिम्मत करके एकदम तालावमें कूदे अथवा कोई जबरदस्ती तालावमें पटक दे, लो सारा जाड़ा खत्म हो जायगा, फिर तो वह बड़े आनन्दसे नहायेगा। ऐसे ही शास्त्रोंके स्वाध्याय में, ज्ञानाभ्यासमें जब तक उसमें लगे नहीं हैं तब तक डर सा लगता है, चित्त नहीं चाहता। गप्पोंके लिए विषयकषायोंके लिए मन बहुत किया करता है। वहां तो रातके १२ बज जायें फिर भी गप्पें पूरी नहीं होतीं, किन्तु ज्ञानाभ्यासके लिए स्वयं अथवा गुरुमुखसे या अन्य प्रकारसे ज्ञानार्जन करें, इस बातके लिए प्रमाद होता है, चित्त नहीं चाहता, मन नहीं लगता, किन्तु दृढ़ चित्त करके ज्ञानाभ्यासमें जरा मन लगा दिया जाय उसके बादमें फिर इसका समय अच्छा व्यतीत होगा, उसे आनन्द आयेगा।

ज्ञानका सतत उद्योग— भैया ! निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रहे ऐसी अपनी भावना रखनी चाहिए। अरे, अन्य पदार्थोंमें उपयोग देकर कौनसी सिद्धि कर ली जायेगी ? चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके ही तो परिग्रह हैं। बाहरमें किसमें उपयोग देकर कौनसी आत्माकी सिद्धि कर ली जायेगी और एक निज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग बने तो कर्म भी कटेंगे, संकट टलेंगे, मोक्षमार्ग मिलेगा, शाश्वत आनन्द मिलेगा, ऐसे ज्ञानके उपयोग की निरन्तर भावना बनावो। अपना उपयोग अपने ज्ञायकस्वरूपमें ही ठहर जाय, रागादिकके वशीभूत न हो तो इसमें ही अपना हित है, यही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। जो शिष्यजन हैं और जो कम पढ़े लिखे हैं

उनको भी ज्ञानकी बात सिखाना, उपदेश करना, पढाना यह सब भी ज्ञानोपयोग है। संसारका पदार्थस्वरूप, शरीरका यथार्थस्वरूप, भोगों का यथार्थस्वरूप चिंतनमें रहना यह भी ज्ञानोपयोग है। कोई ज्ञानोपयोग उत्कृष्ट ज्ञानोपयोगका सहायक है और कोई ज्ञानोपयोग साक्षात् ज्ञानोपयोग है। सर्व द्रव्योंके बीचमें पड़ा हुआ भी, मिला हुआ भी यह निज आत्मा भिन्न प्रतीतिमें आये, अनुभवमें आये, यह है उत्कृष्ट ज्ञानोपयोग। ज्ञानाभ्यास करनेसे, इस ज्ञानस्वरूपके उपयोगके होनेसे विषयोंकी वाञ्छा नष्ट हो जाती है।

आनन्दका व्यवसाय— भैया! जीवको तो सुख चाहिए है। सुख दो प्रकारके हैं— वैषयिक सुख और एक आत्मीय सुख। जिसे आत्मीय आनन्द नहीं मिला है वह प्रकृत्या वैषयिक सुखकी ओर मुड़ेगा। वैषयिक सुखका लगाव जब छूटे तब आत्मीय आनन्दका अनुभव जगे तथा यह भी तथ्य समझ लीजिये एक इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वके अनुभवके जो आनन्द प्रकट होता है उसके फलमें स्वयमेव विषयोंकी वाञ्छा दूर हो जाती है। लोगोंको अपने आपके बारेमें यह शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। अरे मन कैसे स्थिर हो? बाह्यपदार्थोंमें मन लगाये और मन स्थिर हो जाय यह तो असम्भव बात है। कारण यह है कि जिन बाह्यपदार्थोंमें मन लगाया है वे बाह्यपदार्थ भिन्न हैं, वे अपनी परिणतिसे अपना परिणमन करते हैं। उनके परिणमनसे हमारा परिणमन नहीं होता। हम चाहते हैं अपने मनके अनुकूल परका परिणमन, ये बाह्यपदार्थ सदा मेरे पास रहें, मैं जैसा हूं तैसे ये बाह्यपदार्थ बनें, किन्तु ऐसा हो कैसे सकता है? तब मन कैसे स्थिर हो? मन स्थिर होनेका उपाय एक यह ज्ञानोपयोग ही है।

ज्ञानोपयोगका प्रसाद— अपने ज्ञानस्वरूपका उपयोग बना रहे कि यह मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, नित्य हूं, अविनाशी हूं, स्वतन्त्र हूं, ज्ञानानन्दमय हू, मेरा किसी अन्यसे कोई प्रयोजन नहीं है, अपने आपमें अपने प्रयोजन से रमता रहता हूं। ऐसी स्वतंत्रताका मान, ज्ञानस्वरूपका प्रयोग अपनेको मिले तो मन स्थिर रह सकता है। बाह्यपदार्थोंके विषयोंमें मन फसाकर मन को स्थिर नहीं बनाया जा सकता है। जो भी संसारके संकटोंसे मुक्त हुए हैं वे सब इस ज्ञानाभ्यासके प्रतापके हुए हैं। अरे मुक्त होना है जिससे उस का ही पता नहीं है तो मुक्त हुआ किससे जायेगा? मुक्त होना है मुझे, मेरा स्वरूप क्या है? इसका यथार्थ भान हो तो मुक्त हो सकते हैं और जरा यह भी तो देखिये कि यह आत्मा तो सदा मुक्त है। स्वरूपदृष्टिसे देखो

तो यह आत्मा प्रत्येक परपदार्थके स्वरूपसे अब अनादिसे ही मुक्त है अर्थात् किसी भी परमें यह आत्मा मिला हुआ नहीं है किन्तु भ्रम लग गया है, पर्यायमें कल्पना जगी है, देहादिक निकटके पदार्थोंमें ममता लगी है, यह भ्रम मिट जाय तो यह आत्मा अभी सर्वसंकटोंसे मुक्त हो सकता है। यह सब इस ज्ञानोपयोगका प्रसाद है।

'ज्ञानाभ्यास करे मन माहीं। ताके मोह महातम नाहीं।।' ज्ञान एक प्रकाश है। जैसे सूर्यका और अन्धकारका एक जगह निवास नहीं हो सकता है, जहा सूर्यका प्रकाश है वहां अंधेरा नहीं है ऐसे ही जहां ज्ञान-प्रकाश है वहां मोहाधकारका एक आत्मामें निवास नहीं हो सकता है। जिस आत्मामें ज्ञानप्रकाश है उस आत्मामें मोहांधकार नहीं ठहर सकता है। दुःख है तो मात्र मोहांधकारका है। एक भी जीव दुःखी नहीं है किन्तु सबके चित्तमें जुदे-जुदे प्रकारका मोह है, किसीका किसी वस्तुमें राग है किसीका किसी वस्तुमें राग है। इस मोह रागके कारण सभी जीव परेशान हैं। यह परेशानी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगके प्रसादसे मिट सकती है।

ज्ञानबलका पौरुष— जिसने ज्ञानाभ्यास नहीं किया, पर्यायको ही निजस्वरूप माना, ऐसा पुरुष कोई भेष रखकर भी बाह्य घोर तप करके भी कर्म खिरा नहीं पाता है। अज्ञानी जीव उदीरणा कर करके करोड़ो भवों में कर्मोंको खिरा नहीं पाते हैं और ज्ञानी जीव इन कर्मोंको अन्तर्मुहूर्त में ही सेकेण्डोंमें ही ज्ञानाभ्यासके बलसे, ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिके बलसे खिरा देता है, नष्ट कर देता है। ज्ञानकी बड़ी महिमा है। ऐसा निरन्तर ज्ञानका उपयोग करने वाले महापुरुष चाहे अविरत सम्यग्दृष्टि हों, चाहे सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु हों, जब विश्वपर परम करुणाकी झलक होती है तब तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानोपयोगके सिवाय संतोषके अन्य उपायका अभाव — भैया! इस लोकमें कोई संतोषका उपाय है क्या? निर्धन धन बिना दुःखी हैं, धनी तृष्णाके कारण दुःखी हैं, कोई इज्जत चाहकर दुःखी हो रहे हैं, कोई इज्जत पाकर दुःखी हो रहे हैं, कोई आज्ञा देकर दुःखी हो रहे हैं, कोई आज्ञा मानकर दुःखी हो रहे हैं, कोई कुटुम्बके कारण दुःखी हो रहे हैं तो कोई कुटुम्बके बिना दुःखी हो रहे हैं और कदाचित् पुण्यके सुयोगसे कुछ इष्ट सामग्री भी मिल जाय तो भी वे ज्ञान बिना तृष्णावश दुःखी होते रहते हैं। कौनसी बात यहां ऐसी है जिससे यह जीव संतोष पा सके? वह पदार्थ है अपना निज ज्ञानस्वरूप, यह स्वरूप यथार्थ समझमें आ जाय तो यह मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, इस ज्ञानके ही प्रभावसे सन्तोष उत्पन्न होता

है, इस ज्ञानके प्रभावसे ही उत्तम क्षमा आदिक धर्मोंका अभ्युदय होता है। सर्व कल्याणोंकी जड़ है यह ज्ञानोपयोग। यथार्थ ज्ञानकी किरण बिना, शुद्ध बोधके प्रकाश बिना यह सारा जीवन निष्फल है।

दुर्लभ नरजन्मकी उपयोगिता— यह मनुष्यजन्म कितना दुर्लभ है, जब संसारके अनेक देहियोंपर दृष्टि डालते हैं तब समझमें आता है। सड़कोंसे निकलते हैं कैसे सूकर हैं, कैसे गधे हैं, कहीं चूहा मरा पड़ा है और और भी कितनी ही प्रकारके जीव जंतु हैं। आखिर उनमें भी तो जीव हैं, वे भी तो मेरे ही स्वरूपके समान स्वरूप वाले हैं। चेतन जाति तो एक ही है। इनकी इन खोटी दशावोंको निरखकर फिर यह ज्ञात होता है कि मैंने बहुत दुर्लभ समागम प्राप्त किया। प्रथम तो यह मनुष्य भव पाया, यह ही एक बहुत बड़ी बात है। और फिर कुछ ज्ञान पाया, धर्मकी बात समझ सकते हैं, धर्मकी बातें बोल सकते हैं, ऐसा दुर्लभ समागम पाकर भी हम इसका लाभ न उठायें, ज्ञानोपयोगमें न जुटें तो यह एक बड़े विषादकी बात है। यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग तीर्थंकर प्रकृति बंधका कारण होता है। धन, कन, कंचन, राजसुख, हाथी, घोड़ा ये कुछ भी काम नहीं आते हैं किन्तु ज्ञान यह आत्माका स्वरूप है। इसके प्रकाशमें संतोष और शांति प्राप्त होती है। यह ज्ञानस्वरूप प्रकट हो जाय तो फिर अविचल हो जाता है। इसे कोई छुड़ा नहीं सकता, कोई बांट नहीं सकता। ज्ञानके समान इस लोकमें सुखकी चीज अन्य वस्तु नहीं है। सब कुछ मिले, पर एक ज्ञान पास न हो, विवेक न हो तो वह निराकुल तो रह नहीं सकता।

रटंत विद्यासे सिद्धिके अभावका एक दृष्टान्त— भैया! केवल अक्षर विद्या पढनेका नाम ज्ञान नहीं है किन्तु स्वयंकी प्रतिभा, स्वयंका विवेक यह ही हितकारी ज्ञान है। एक बार दो तीन ज्योतषी आये। राजासे बोले— महाराज हम ज्योतिषके द्वारा अप्रत्यक्षकी भी बात बता सकते हैं। तो राजा ने हाथमें लिया एक मालाका दाना जिसमें छेद रहता है और जो सूतमें पोया जाता है, उसे चुपके से लिया और ज्योतिषियों से पूछा— बतावो हमारी मुट्ठीमें क्या है? तो उन्होंने अनेक बातें बताईं। एकने तो बताया कि आपकी मुट्ठीमें सफेद-सफेद चीज है तो दूसरा कहता है कि आपकी मुट्ठीमें गोल-गोल चीज है तो तीसरा कहता है कि उस चीजमें छेद भी है। तो चोथेसे कहा कि अब तुम बतावो क्या है? तो चौथा कहता है कि खोल दो राजन् मुट्ठी, चक्कीका पाट है। अरे ठीक तो बता रहे थे कि सफेद भी है, गोल भी है, उसमें छेद भी है, उसमें ये तीनों बातें तो हैं, पर वह चौथा यह न सोच सका कि चक्कीका पाट मुट्ठीमें कैसे

आयेगा ? केवल अक्षर विद्या और सीखी हुई विद्या इतना ही नाम ज्ञान नहीं है। अनुभवमें उतरे वह ज्ञान है।

जीवनका लक्ष्य— अपने आपके स्वरूपका प्रतिबोध हो जाय ऐसा ज्ञान अ आ इ ई का जिसने लिखना न सीखा हो उसे भी हो सकता है। जब पशुपक्षियोंको भी वह ज्ञान प्रकाश आता है जिस ज्ञान प्रकाश से वे कर्मनिर्जरा कर रहे हैं तो हम आप मनुष्योंके न आये यह कैसे हो सकता है ? तो अपनी दृष्टि क्यो न बदले, हम जिन्दा हैं तो घर बनानेके लिए, कुटुम्ब परिवारके लोगोंमें ही तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करने के लिए जिन्दा नहीं हैं। अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण करके बड़ी कठिनाईसे मनुष्यभव पाया है इसका सदुपयोग आत्मविवेक करनेमें है। हम जिन्दा हैं तो अपने आत्मस्वरूपकी पहिचान करने के लिए और यह ही मात्र मैं हू ऐसी दृष्टि बनानेके लिए हम जिन्दा हैं। कुछ मोड़ आये जीवनमें, कुछ सही दृष्टि बने तो इस मनुष्यजन्म की सफलता है।

ज्ञानोपयोगका हस्तावलम्बन— भला बतलावो ससारमें कितने संकट हैं। न भी कोई पीड़ा दे रहा हो, न भी कोई कुछ आक्रमण कर रहा हो, किन्तु जिस जीवको अपने स्वरूपका प्रकाश नहीं मिला है वह तो पर-पदार्थोंमें अपने आपके लिए कुछ न कुछ कामना करता हुआ दु खी रहा करेगा। तो दु खमय ससारसमुद्रमें डूबते हुए इस जीवको हस्तावलम्बन देने वाला कौन है ? न पुत्र है, न पिता है, न भाई है, न बहिन है। कोई भी इस जीवको ससारसमुद्रसे, दुःखोंसे बचानेमें समर्थ नहीं है। इसे संकटोंसे दूर कर सकने वाला कुछ है तो इसका ही यथार्थ ज्ञान है। रोग भी अपने हाथ है और रोगका इलाज भी अपने हाथ है। पर रोग तो बढाया जा रहा है और इलाज नहीं किया जा रहा है। भ्रम, राग, द्वेष, मोह ये करना अपने ही परिणमनकी तो बात है। और इन सब विभाव-परिणतियोंसे भिन्न शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव कर लेना यह भी तो अपनी परिणतिकी बात है। सो सुखी होनेके लिए एक इस ज्ञानका उपयोग किया जाय तो यही हमारे कल्याणका उपाय है।

परकी व्यर्थ चाह— भगवतोंकी यह आज्ञा है कि हे भव्य जीवों ! सत्य आनन्द चाहते हो तो अपनेको ज्ञानमें उपयुक्त करो अर्थात् ज्ञानकी आराधना करो। जब यह जीव परिणाम करने से अतिरिक्त अन्य कुछ कर ही नहीं सकता तब अपने परिणामोंको ऐसे सारभूत तत्त्वमें लगावो कि जिससे संसारके समस्त संकट टल जायें। बतावो अच्छा इस लोकमें कौन सी चीज ऐसी है कि जिसको रखने से आत्माका भला हो जायेगा ? खूब

विच र करलो, दुकान बन गयी मकान बन गया, कुटुम्ब हो गया तो क्या होगा अंतमें ? हजारपतिसे लखपति हो गए, करोड़पति बन गए, अरबपति हो गए तो क्या होगा उस बनका ? आत्मा तो एक चैतन्यस्वरूप है, उसका तो अपने चैतन्यस्वरूपमें ही अपने ही सत्त्वके कारण जैसा कुछ उपादान और निमित्त योग है परिणमता रहेगा। इसका अन्य पदार्थोंसे कौनसा भला है।

भगवद्भक्ति कहां— हम भगवानको पूजते हैं, किन्तु अपने चित्तमें यह बात न लायें कि ये भगवान क्यों पूज रहे हैं ? इसलिए ही तो पूज रहे हैं कि ये केवल ज्ञानपुञ्ज रह गए, इनका घर नहीं, शरीर नहीं, धन वैभव नहीं, कभी संकट नहीं, क्लेश नहीं, केवल ज्ञानपुञ्ज विकसित हो गया है, तो अपनेको भी ऐसा ही प्रोग्राम करना चाहिए कि मोह छूटे, अपनेको मैं आकिञ्चन समझ लूं और केवल इस ज्ञानस्वरूपमें ही मेरा उपयोग लगे ऐसी बात यदि नहीं आती है तो आपने भगवानको पूजा कहां और बड़ा माना कहां ? बल्कि अज्ञानीजन तो ऐसा अपने मनमें श्रद्धान रक्खे हुए हैं कि हम इतने चतुर हैं कि भगवानको भी हम चकमा दे सकते हैं और अपना काम बना सकते हैं। तो कहां माना प्रभुको बड़ा, प्रभुका बडप्पन तो तब माना समझो जब कि यह बात आपमें रुच जाय कि ये भगवंत प्रभु ज्ञानपुञ्ज हैं, ये सर्वश्रेष्ठ हैं, इनमें ही परमआनन्द है, ये ही सर्वोत्कृष्ट विकास है, मुझे ऐसा ही होना है। ऐसी बात हृदयमें जब तक नहीं आती तब तक भगवानको भगवानके रूपमें माना ही कहां है ?

ज्ञानशरणका अवशरण— भैया ! ज्ञानका सहारा लिए बिना शांति का पथ मिल ही नहीं सकता है। कौन काम करने योग्य है कौन नहीं है, यह जब तक विदित नहीं होता तो मोक्षके मार्गमें कैसे आ सकते हैं ? अपने पाये हुए इस समागम चतुष्टयको ज्ञानके लिए ही लगावो। यह तन पाया है तो ज्ञानके लिए इस तनका श्रम करो। ज्ञानवंत गुरुजनोंकी सेवामें अब तनका श्रम करो। मन पाया है तो ज्ञानकी उपासनाके लिए उत्सुकता रक्खो और ज्ञानवंत पुरुषोंकी मनसे सराहना करो। धन पाया है तो ज्ञान की साधनाके प्रसारमें इसका व्यय करो। अपने शिक्षणके लिए भी व्यय करो। दूसरे भी धर्मविद्या पढ़ें उसके लिए व्यय करो अथवा अनेक साधन हैं, विद्वानोंका समागम बनावो, उनके आने जाने आहार आदिमें व्यय करो अथवा पहिले शास्त्र लिखने की पद्धति थी, लोग शास्त्र लिखवानेमें व्यय करते थे। अब शास्त्र प्रकाशनकी पद्धति है। यदि न होते वे लिखे हुए शास्त्र या प्रकाशित शास्त्र तो हम आप कहांसे इनका ज्ञान विकास पाते ?

तो इसमें व्यय करें। अनेक ज्ञानके प्रसारके साधन हैं, धन पाया है तो ज्ञानके लिए व्यय करें, वचन पाया है तो इसको भी उपयोगमें ले जिससे ज्ञान प्रकाश मिले, ज्ञान विकासके लिए प्रेरणा मिले, अथवा ज्ञानव्रतोंकी सेवा शुश्रूषा, रूप, वचन निकलें, यों वचनोंका सदुपयोग करें।

ज्ञानोपयोगकी साधनामें हित— तन, मन, धन, वचन ज्ञानके लिए न्यौछावर हो जायें ऐसी जिसके भावना जगती है और यत्न होता है वह इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगकी प्राप्ति कर लेता है। ज्ञानकी चर्चामें, पठन-पाठनमें, उपदेशमें, ज्ञानमय वचनोंके प्रोग्राममें अपना तन, मन, धन, वचन का व्यय करें तो यह भी ज्ञानोपयोगकी परम्परया सेवा है। जितना समय ज्ञान भावकी दृष्टिको छोड़कर अन्य पदार्थोंकी दृष्टिमें व्यतीत हो वहां अनुभव किया होगा कि आकुलताके सिवाय और कुछ नहीं पाया होगा। जितना समय निज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें लगता है, लगा है, लगा होगा, अनुभव किया होगा उसका उतना समय अनाकुलतामें व्यतीत होता है यो प्रत्येक सम्भव उपायोंसे निरन्तर ज्ञानके लिए उपयोग बनाना यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ऐसे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगके धारी पुरुष जब जगत के जीवोंपर दृष्टिपात करते हैं तो उनके परमकरुणा उत्पन्न होती है। अहो! ज्ञानानन्दमय तो यह स्वयं है। इस ओर उपयोगके मोड़नेके फल की बात यह है कि अनन्त आनन्द प्रकट हो सकता है, किन्तु इतना ही यह नहीं कर पा रहा है, इसकी ऐसी सद्बुद्धि जगे कि अपने आपकी ओर उपयोग हो, ऐसी परमकरुणा होने पर इस महाभाग पुरुषके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें से चार भावनाएँ समाप्त हुई।

५—संवेग

संवेगभावना— अब ५वीं भावना संवेग भावना कही जा रही है। संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तिका नाम सम्वेग है। यह ही शांतिका कारण है, ऐसा जानकर सम्वेगका आदर होना सम्वेगकी भावना करना यह है सम्वेग भावना। सम्वेगका दूसरा अर्थ यह भी है कि धर्ममें अनुराग करना और धर्मके फलमें अनुराग करना यह भी सम्वेग कहलाता है अथवा इन दोनोंको जोड़कर यह अर्थ करना कि संसार, शरीर व भोगोंसे विरक्त होकर धर्ममें और धर्मके फलमें अनुराग करना इसका नाम है सम्वेग भावना।

धन वैभवमें अशरणता— अहो! जगत्‌के ये जीव किस ओर अनु-

रागमे बढ़े हुए चले जा रहे हैं ? धन, वैभव, स्त्री, पुत्र इन सबमें प्रधान विषय बन रहा है आज कल धन, वैभवकी उपासना। इसकी तो उपासना ही विचित्र है। जिसकी उपासना करनेमें कष्ट है, जिसकी रक्षा करनेमें कष्ट है और जिसका अंतमें वियोग हो तो वियोगके समयमें कष्ट है। जिस धन वैभवके कारण निरन्तर शंकाएँ रहती हैं, जिस वैभवके कारण गुरुजनोंका भी अविश्वास हो जाता है और अपमान किया जाता है, जिस धन वैभवके कारण अज्ञानता बढ़े, उद्दण्डता बढ़े, पाप कर्म प्रकट हों, उस धन वैभवके पीछे बेहतासा होकर भागे चले जा रहे हैं।

पुत्रसंसर्गमें अनर्थ-- पुत्रकी बात देखो, पुत्र जिस समय गर्भमें आता है उस समय देखो स्त्रीकी सुन्दरता पुत्रने हर ली, पहिला आक्रमण तो पुत्रने यह किया, अपनी मां पर समझो या बाप पर समझो। स्त्रीकी सुन्दरता खत्म हो गयी और देखो— वे यों ही स्वयं क्षीण हो जाती है, दुर्बल हो, रक्त कम बने, कुछ वैसे ही पीलापन आ जाय, बड़े कष्टकी बात हो जाती है। लो पुत्रने पहिला आक्रमण यह किया। दूसरा आक्रमण है गर्भसे निकलते समयका। घरके सभी लोग चिंताग्रस्त हो जाते हैं। लोग सोचते हैं कि बड़ी सुविधापूर्वक प्रसव हो जाय, खैर मनाते हैं। लो तीसरा आक्रमण यह है कि वह बच्चा कुछ बड़ासा होता है तो अपने खाने में कमी कर ली जाती है और उसकी ओर अधिक दृष्टि दी जाती है। स्वय बिना दूधके रह जायें, लो यह कितना बड़ा उस बच्चेका आक्रमण है ? चौथा आक्रमण है कुछ बड़ा हो जाने पर उसे न्यायमार्गमें लगानेकी चिंता रखना। बात न माने, अनीतिमें लग जावे, खोटे मार्गमें लग जाय उसकी परेशानी। यों आक्रमण बहुत हैं, कहां तक गिनतीका ख्याल रक्खें। नम्बर आप जोड़ते जाओ (हंसी)। उसके बादका आक्रमण है अब आजके जमानेमें पढाईका खर्चा बहुत बढ़ गया है। बी० ए० पढ़ रहे हैं तो १०० रु० महीना कमसे कम चाहिए, विलायत पढ़ने जाता है तो कमसे कम ५०० रु० महीना चाहिए या हजार समझ लो कितने ही आक्रमण हैं। जब विवाह हो जाता है तो नया स्नेह मिला, अब माता और पिताकी खबर भूल जाता है।

अन्यमनस्कता— एक बार गुरुके पास एक शिष्य दो दिन बाद लेट पढ़ने आया तो गुरु पूछता है कि आज तुम लेट क्यों आये ? तो शिष्य कहता है— क्या करें, आज सगाईमे फस गए थे। तो गुरु बोला कि अब तुम गावसे गए। फिर कुछ दिन बाद ४-५ दिन लेट आया तो गुरुने पूछा कि लेट क्यों आये ? तो शिष्यने कहा कि शादी हो रही थी। अब गुरुने

कहा कि अब तुम घरसे गए। फिर दो चार दिन बाद लेट आया तो फिर गुरुने पूछा— क्यों लेट करके आये तो बोला कि बाल बच्चे हुए है तो कहा कि लो अब तुम माता पितासे भी गए, अपने सुखसे भी गए। तो देख लो जब सगाई हो जाती है तो स्वसुरालका गांव नजरमें भरा रहता है। जिस गांवमें पैदा हुआ है वह गांव न कुछ लगता है और जब शादी हो जाती है तो उसके लिए घर अपना कुछ नहीं रहा, स्वसुरालका घर ही सब कुछ हो जाता है, और बड़े भये, बाल बच्चे वाले तो माता पिताकी भी सुध नहीं लेते। इतनी ही बात नहीं किन्तु अपमान किया जाता है, स्त्रीका पक्ष लिया जाय, पुत्रका पक्ष लिया जाय, माता पिता मन मसोस कर रह जाते हैं। कितनी आशा लगायी थी इस ललन पर माता पिताने कि यह बड़ा होगा तो सुख देगा किन्तु हो रहा है उल्टा।

कुटुम्ब संसर्गमें अशरणता— भैया! कहां अनुरागमें बढ़े जा रहे हो? अरे अपने परमात्मस्वरूपको तो भूल गए और अत्यन्त असार बातों में बढ़े चले जा रहे हो। पुत्रकी यह कहानी है। स्त्रीकी भी विचित्र कहानी देखो, पिताकी भी विचित्र कहानी। ये सारे समागम अपने विषयकषायों की स्वार्थकी पूर्ति की नींव पर खडे हुए हैं। सार तत्त्व कहीं कुछ नहीं हैं। कितना व्यामोह छाया है कि घरमे उत्पन्न हुए दो चार लोग तो इसके वे हो गए सर्वस्व और उनको छोड़कर बाकी लोग तो निगाह पर भी नहीं टिकते है, वे गैर हैं यों माना जाता है, जबकि समस्त जीव अपनेसे अत्यन्त पृथक् हैं। जितने भिन्न कल्पित गैर लोग हैं उतने ही भिन्न कल्पित ये घरके लोग हैं तथा स्वरूपदृष्टिसे देखो तो सर्व जीव एक समान स्वरूप वाले हैं। कहां अनुराग वढाये जा रहे हो, यह ससार अनुरागके योग्य नहीं है।

शरीरमें अनुरागकी व्यर्थता— यह शरीर भी अनुरागके योग्य नहीं है, अशुचि है, असार है, हड्डी, चाम, मांस, खून इनसे ही तो यह शरीर बना हुआ है, और जैसी असार यह मूर्ति है ऐसी ही अशुचि तो ये सब मूर्तियां हैं। किनमें यश चाहते हो, किनमें नामवरी चाहते हो, किनको क्या बताना चाहते हो? अरे खुद ही तो महासक्लेशमें पड़े हुए हैं, खुद की तो रक्षा नहीं करना चाहते और व्यर्थकी परवस्तुविषयक चिंताएँ लादे चले जा रहे हैं।

भोगोंकी असारता— भोगोंमे भी देख लो कौनसा भोग सारभूत है? पंचेन्द्रियके ५ विषय हैं और अटपट, गड़बड़, अनियमित विषय मनका भी कल्पित कुछ है। इन ६ विषयोंमें से कौनसा विषय ऐसा है कि

जिसके भोग लेनेके बाद यह निश्चय हो जाय कि अब इस दुःखसे अपन छूट गए। है कोई विषय ऐसा ? छूटना तो दूर रहा, ज्यों ही किसी भी विषयका चस्का लगता है तो उस विषयके भोगनेकी उत्सुकता और परम्परा बढ जाती है। सोचते तो यह हैं कि हम दु:खोंको मिटालें विषय भोगकर, किन्तु भोगनेके बाद वे दु:ख और लम्बे बढ़ जाते हैं। ज्ञानी पुरुष सम्वेग भावनामें चिंतन कर रहा है। यह संसार, यह शरीर, यह भोग, ये समागम ये सब असार हैं, इनमें राग करने से विडम्बना ही बढ़ती है।

जीवनकी व्यर्थयापना-- दो भाई थे। उनमें एक भाई गुजर गया। वह बी० ए० तक पढ़ा था। सर्विस हुई, पेन्शन मिली, अच्छी उम्र पाकर गुजरे तो लोग उस दूसरे भाई को समझाने आये थे। किसी ने यह भी पूछा कि भाई तुम्हारा क्या कर गया, याने मरते समय कुछ धर्म दान पुण्य कर गये कि नहीं, अपने लिए भी कुछ लाभ ले गए कि नहीं ? यों पूछने पर भाई जवाब देता है—'क्या बताये यार क्या कारनामा कर गए। बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन हुई और मर गए॥' सभी अपनी अपनी बात घटा लो, व्यापार करनेकी कला सीखी, धन भी कमाया, बूढ़े हुए और मर गए। उनके बारेमें भी तो यही उत्तर है-- व्यापारकी चतुराई सीखी, व्यापार किया, बूढ़े हुए और मर गए। क्या साथमें लेकर गए ? अरे साथमें लेकर जानेकी बात तो दूर रहो शांतिपूर्वक मर भी नहीं सके। एक-एक पदार्थको सामने रखकर विचार करलो कि वह पदार्थ मेरे हितमें कहा तक साधक हो सकता है ? यह तो है कुटुम्बियोंकी कहानी। अब मित्रकी भी बात देखो।

मित्रोंकी कहानी— मित्र उसीको कहते हैं जो दुनियांमें, विषय-कषायोंमें उलझाये रक्खें और विषय-कषायोंकी उलझन बढा सकें, उसका नाम है दोस्त, मित्र। खूब परीक्षा करके देखलो। अरे दोस्त वही तो सुहायेगा जो मेरे मनके विषय कषायके माफिक, अपने विचार बनाये, सराहना करे, हा तुम खूब करो कषाय। तुम यह विषय खूब भोगो, हा बात तो तभी है जब कि ऐसा हो जाय। ठीक है करो कषाय। जो विषय कषायोंमें उलझाए वह बड़ा प्यारा लगता है, बड़ा दोस्त जचता है और जो विषय कषायोंसे निवृत्तिकी बात कहे वह तो उसे वैरी सा जचता है। यह हमारा विरोधी है, यह हमारा भला नहीं चाहता, यों है यहाके दोस्तोंकी कहानी। यों यहां के दोस्त व्यसनोंके पापोंके सहकारी हैं। जहा तक स्वार्थ सध वहां तक इसकी मित्रता है। निर्धनता होने पर फिर वही मित्र सम्भाषण भी नहीं करता है।

विपर्योंकी क्लेशकारिता— अन्य भी कौन सी बात है जिसमे कुछ सार नजर नहीं आता। यश और नामवरीकी भी बात देखो, क्या है उस यश और नामवरीमे। प्रथम तो यश नामवरीके खातिर अपने तन, मन, धन, वचन सबको बरबाद कर दिया जाता है, श्रम किया जाता है, लोग खुश रहें ऐसी मनमें दीनता बसी रहती है। ऐसे दीनता भरे आशयसे कमाये हुए यशमे यदि किसी दिन थोड़ा धब्बा लगे तो प्राण गवाने पर ही छुटकारा मिलता है। अपने सद् आचरण से चलें और उसमे जो कुछ होता हो, होने दें, पर जानबूझ कर नामवरीकी चाह करे कोई तो उसे विडम्बनाएँ और विपत्तियोंके सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कौनसा भोग ऐसा है जो कि सारभूत हो। सब जानते हैं। हम दुःखी भी हो जाते हैं और उस दुःखके उपायसे छूटनेकी मनमें चाह भी नहीं करते हैं। क्या करें, कैसा चस्का लगा है? तेज लाल मिर्च खाते भी जाते हैं, सी सी करते भी जाते हैं, आंखोसे आंसू बहते भी जाते हैं और मांगते जाते हैं कि चाट पकौड़ीमे और लाल मिर्च डालो, यों ही इन विषयकषायोंके दुःख भोगे जाते हैं और इन विषयोकी ही मांग करते जा रहे हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष संसार, शरीर, भोगोसे विरक्त रहा करते हैं।

विषयसंताप— जगत्के प्राणी जिन इन्द्रिय विषयोंमे लुभा रहे हैं वे ही अपने प्रभुस्वरूपको भुला देने वाली, तृष्णाको बढ़ाने वाली व असंतोष के उत्पन्न करने वाली हैं। जैसे ईंधन डाल-डाल करके आगको संतुष्ट नहीं किया जा सकता है, जितना ईंधन डाला जायेगा उतनी ही आग बढेगी, कभी आग यह न कहेगी कि बस अब पेट भर चुका है, इसी प्रकार इन भोग विषयोंके भोगने से कभी तृप्ति नहीं आ सकती है। भोगोंसे तृप्ति तो इस ज्ञानबलके होने पर आ सकती है। भोगोंसे विरक्तिमें ही तृप्ति हो सकती है, विषयके आतापके सामने इन तीनों लोकोमें आताप कुछ नहीं है। जिन्हें अपने कल्याणकी इच्छा हो उन्हें चाहिए कि विषयोसे पराङ्मुख रहें और निज ज्ञानकी ओर दृष्टि करें, जिनके खातिर न्याय अन्याय नहीं गिने जा रहे हैं वे इसके पापोदयमें कभी सहायक नहीं हो सकते हैं। यों ससार शरीर और भोगोंसे सहज ही जिनके विरक्ति है ऐसे ज्ञानी पुरुष ही इस जीवके परमकरुणाका भाव करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं।

बाह्यमें सर्वत्र अरम्यता— इतनी बात तो प्रकट ही है कि यहां कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें रमा जाय। कौनसा पदार्थ समागममें आया हुआ नित्य रह सकता है? जो आये हैं वे सब बिछुड़ेंगे, जिनका संयोग

हुआ है उनका नियमसे वियोग होगा, जिनका वियोग हुआ है उनका संयोग मिले या न मिले उसमें दोनो ही सम्भावना है, परन्तु जहा सयोग है वहा वियोग नियमसे है, यह अकाट्य नियम है। जो पुरुष सयोगमें हर्ष मानते हैं उन्हें वियोगमें संक्लेश होता है। यह बड़ी तपस्या है कि समागममें रहते हुए, संयोगमें रहते हुए हर्ष न मानना और यह ज्ञान बनाए रहना कि एक दिन ये भी बिछुड़ेंगे, ऐसा ज्ञान जिन ज्ञानी पुरुषोंके बना रहता है वे कभी दुःखी नहीं होते हैं, वस्तुके स्वरूपके परिज्ञानसे जहां च्युत हुए वहां क्लेश हैं।

विशुद्ध ज्ञानमें क्लेशका अभाव— वस्तुतः कोई क्लेश नहीं है। अपनी बुद्धिका विपरीत चलना यही क्लेश है। कभी घरमें लड़के लोग आज्ञा न मानें तो वहां क्लेश होता है। अरे जगत्में अनन्ते जीव हैं, उनकी तो कुछ खबर ही नहीं है। घरमें आये हुए जीवोंके प्रति ख्याल बना कर क्लेश होता है। क्लेश तो यों है कि मान रखा था कि मैं जैसा चाहू तैसा इनका परिणमन होगा, यों विपरीत श्रद्धा होने से क्लेश होते हैं। यदि यह बात चित्तमें आ जाय कि—'होता स्वयं जगत परिणाम। मैं जगका करता क्या काम।।" घरमें रहे, बहुतसे काम करें, कमायी करें पर चित्तमें ऐसा परिणाम बनाएँ तो वहां क्लेश नहीं होता है। ऐसे विशुद्ध ज्ञानका होना ही अमृत तत्त्व है।

अमृतस्वरूप— लोग कहते हैं कि अमृतका पान करलो तो अमर हो जावोगे। वह अमृत पनीला है या कड़ा है, या गोलमटोल है, किसी ने देखा है क्या कि अमृत ऐसा होता है? कुछ अन्दाज करो कि अमृत कैसा होता होगा? अरे अमृत नामका कोई पदार्थ नहीं है जिसको गलेसे उतार दो तो अमर हो जावोगे। फिर बात क्या है? बात यह हुई थी कि पहिले ज्ञानीपुरुष होते थे, वे जानते थे कि यह अमृत है और यों इसका पान किया जाता है और अमृत पान करले तो यह जीव नियमसे अमर हो जायेगा। आप कहेंगे कि वही बात फिर दुहरायी जिसको अभी मना कर रहे थे। देखो अमृत शब्दका अर्थ क्या है? न मृतं इति अमृत। जो मरे नहीं वह अमृत। जो खुद न मरे, खुद न नष्ट हो वही तो अमृत हो सकता है। मुँहसे चबाकर, गले से उतारकर पी डाला तो वह तो खुद ही मर गया। जो खुद अमर नहीं है वह दूसरेको अमर कैसे कर सकता है? तो खोज लो अमृत क्या है जो कभी नष्ट न हो सदा साथ रहे। अन्तर्दृष्टि करके निहारो, वह अपना ज्ञानस्वरूप ही अमृत है और उस ज्ञानस्वरूपका पान किया जाता है ज्ञानके ही द्वारा। ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपका ज्ञानरूप

अमृत पान करनेसे यह जीव नियमसे अमर हो जाता है।

अमृतपानकी पात्रता— अमर तो यह जीव था ही पर विश्वास न था कि मैं पैदा हुआ, शरीरका विछोह हुआ तो समझ लिया कि मै मर रहा हूं, बस इसी समझसे वह मरता और जन्मता चला जाता है। यह अमृतपान कब हो सकता है, जब संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो। ऐसी पात्रता जिनमें होती है ये तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेते हैं। जो चीज अरक्षित है, नष्ट हो जाने वाली है उसमें ममता करनेका फल क्लेश ही हैं। नष्ट हो जाने वाली चीजकी उपेक्षा रहना, पहिलेसे ही अपनेको पृथक् रखना, सो ही दुःखसे मुक्त होनेका उपाय है। यही तो सब संयोग-भावना है। वैराग्य होना और ज्ञानस्वभावमे अनुराग होना इस ही भाव का नाम है संयोग। इस संयोगकी निरन्तर उपासना करो, विषयोसे विरक्ति करो और धर्मसे अनुराग करो।

यथापद धर्मपालन— धर्म पात्रता और पदवीके अनुसार अनेक रूपोंमे किया जाता है, फिर भी उन सब रूपोंमे धर्मकी मूल बात एक ही रहेगी। सर्वजीवोंकी दया पालना यह भी धर्म है। वस्तुका जैसा स्वभाव है उस स्वभावका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण होना यह भी धर्म है। आत्मामे क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक १० विशुद्ध परिणामोंका प्रवेश होना यह भी धर्म है। अब जो जिस प्रकारकी योग्यता वाले हैं उनको समझानेके लिए धर्मका वह रूप समझाया जाता है पर अंततोगत्वा यह धर्म है, जो मेरा स्वभाव है। चिन्मात्र उस चैतन्यस्वरूपका सचेतन करना, संकल्प विकल्प जालोंसे मुक्त होना इसको ही धर्म कहते हैं। धर्म कहते उसे हैं जो दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तमसुखमें धारण कराये। कौन है ऐसा पुरुष जो दुःखसे छुड़ाकर सुखमें ले जाये? भगवानकी हम क्या आशा करें, वे समस्त विश्वके निरन्तर जाननहार रहते हैं, किन्तु वे स्वयंके ही आनन्द-रसमें लीन रहते हैं। हम ढोलक, झांझ, मृदंग आदि बजा-बजाकर भगवानके पास आवाज पहुंचाना चाहते हैं पर वहां आवाज नहीं पहुंचती है और कदाचित् वहां आवाज पहुंच भी जाये तो वे अनीन्द्रियस्वरूप हैं। वे इन्द्रियों द्वारा इन शब्दोंका जानन ही नहीं किया करते हैं। उनसे तो इतना ही लाभ है कि मैं भगवानके उस शुद्धस्वरूपको निहारूँ तो विषय-कषायोंकी विपदा दूर होगी और अपने शुद्ध-ज्ञायकस्वरूपका परिचय मिलेगा। यह लाभ साधारण लाभ नहीं है, बहुत बड़ा लाभ है।

धर्मकी संगतिमें प्रभाव— विषयोंसे विरक्त होकर धर्ममें अनुराग हो इसका ही नाम सम्वेग है। लोकमें जो कुछ भी उपादेय ठाट देखे

जा रहे हैं, पुराणोंमें चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिक जितने महापुरुषोंके ठाट समझे जाते हैं वे सब धर्मके फल हैं, और धर्मके भी फल नहीं किन्तु धर्मके साथ-साथ रहने वाला जो यह रूप हैं उस रागके फल हैं। धर्म तो मुक्ति का ही कारण है, वह सम्पदाका कारण नहीं है, किन्तु धर्म करने वाले जीवके साथ जो कुछ भक्ति, अनुराग, परोपकार, दयाभावरूपी राग रहता है उन रागोंसे ऐसा पुण्य बनता है कि ये संसारके ठाट और चमत्कार उसे प्राप्त हो जाते हैं। जैसे समझो बडे डिप्टीके क्लर्कमें भी बहुतसी पावर और योग्यताएँ हैं, यों ही जानो कि धर्मराजके साथ रहने वाला जो राग है उस रागमें भी बहुतसी योग्यताएँ और प्रभुत्व हैं। तब धर्मकी तो बात ही क्या कहें ?

प्रतिसमृद्धि— भैया! जितने क्लेश हैं, वे सारे क्लेश धर्मभावके कारण एक साथ तमाम हो जाते हैं। जैसे किसान अनाज प्राप्त करनेके लिए खेती करता है और उस खेतीमें भुस अनायास ही बड़ी विपुल राशि में प्राप्त हो जाता है यों ही मुक्तिके लिए धर्म किया जाता है और धर्म करते हुएमें जो बड़ी सम्पदा मिली, ऐश्वर्य मिला, चला मिली, इज्जत मिली, रूप मिला, ऋद्धि मिली ये सब भुसकी तरह अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जायेंगे। ज्ञानी पुरुषके चमत्कारोंमें आस्था नहीं है किन्तु उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे जायमान आनन्दके अनुभवमें आस्था है। यह कथनी दूसरेकी न समझिए खुदमें घटाते चलो, खुदके लिए ही ये सब बातें सुनिये।

उल्टा बहाव— अहो! किस ओर बहे जा रहे हैं लोग, जिस संसार, शरीर और भोगोंकी ओर लगे जा रहे हैं उनमें रंच भी हित नहीं है। भोगासक्त पुरुषोंको ज्ञानी सत पुरुषोंकी बात नहीं सुहाती है। वे जानते हैं कि चतुर तो हम ही हैं। यह कहा है सो ऐसा कहा जा रहा है। यह एक धर्मकी विधि है। किन्तु यह स्वयं अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपको टटोले तो इसे खबर पड़ जायेगी, अपने आपका महत्त्व ज्ञात हो जायेगा। जैसे कोई पुरुष किसी लड़केको बहका दे, आगे कोई कौवा उड़ रहा हो और वह पुरुष कह दे कि देख तेरा कान कौवा ले गया, तो वह लड़का उस कौवेके पीछे दौड़ता है। लोग समझाते हैं, अरे कहां दौड़ते हो? तो वह लड़का कहता है अरे ठहरो, अभी मत बोलो, मेरा कान कौवा ले गया। अरे कहां ले गया है? ले गया है, मुझसे बडे लोगोंने कहा है। अरे जरा अपने कान टटोल कर तो देख ले, फिर दौड़ लगा। वह कान पर हाथ धरता है तो कहा कौवा ले गया था, कान तो दोनों ही

वहीं चिपके थे। यों ही ये जगत्के प्राणी रिश्तेदारोंके, मित्रोंके बहकाये हुए अथवा अपने विषयसाधकोंसे बहकाये हुए दौड़े भागे जा रहे हैं। खूब धन कमावो, खूब बढिया खावो, मोटर रक्खो, ऐसा मकान बनवावो, ऐसे शृंगार बनवावो, ऐसे अंगोंको सजावो, ऐसे भोग और विषयोंसे बहके चले जा रहे हैं।

ज्ञानी संतो द्वारा प्रतिबोधन— ये ज्ञानी ऋषि संत आचार्य समझाते हैं— अरे कहां भागे जा रहे हो? नहीं सुनता है इनकी बात। स्वाध्याय करनेका १० मिनटोंको भी मौका नहीं मिलता, यही तो न सुननेकी बात है। इन ऋषि संतोंकी पुकारको यह नहीं सुन रहा है भोगासक्त पुरुष और कह रहा है कि तुम चुपके बैठो। तुम्हें क्या मालूम? मेरा सुख इन विषयों में है, भोगोंमें है, मेरा आनन्द इन परपदार्थोंमें है। इन्हें हम कैसे छोड़ दें? इन परपदार्थोंसे ही अपने आनन्दकी आशा करके दौड़े चले जा रहे हैं। ये अध्यात्मपुरुष शास्त्रोंमें समझा रहे हैं कि अरे कुछ इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपको निहारो और तुम्हें तुम्हारा आनन्द न मिले तो आगे चले जाना। कोई विवेकी पुरुष, विश्वासी पुरुष जिनका गुरुजनों पर अटूट विश्वास है उनके कहे माफिक इन इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपमें टटोलते हैं तो उन्हें अनुभव जगता है, ओह! यह ही तो मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। मेरा आनन्द बाहर गया कहा? जो पुरुष विषयोंसे विरक्त होते हैं और सहज ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वके रुचिया बनते हैं, ऐसे पुरुषोंके यह सम्वेगभाव प्रकट होता है।

संवेग और सवेगका फल—इस सम्वेगभावनाके फलमें अपने आपके शुद्ध आनन्दका बारबार अनुभव होता है, और जब-जब सधर्मीजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होता है। धन्य है सधर्मीजन मिलने की घड़ी। वे उस क्षणको धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रयके धारी मोक्षमार्गके रुचिया जन मिलते हैं। साथ ही वे भोगोंसे सहज ही विरक्त रहा करते हैं, ऐसे पवित्र ज्ञानके उपवासी संतपुरुष जब अन्य जीवों पर दृष्टि देते हैं तो कुछ विषाद भरा अनुराग होता है। ओह! जरा ही तो अपने उन्मुख होना है कि सारे सकट इसके टल जाते हैं। केवल एक मुखके मोड़ मे ही ससार और मुक्तिका अन्तर है। जहा इस समय पीठ है वहा मुख करना है और जिन बाह्यपदार्थोंकी ओर मुख किए हैं वहां पीठ करना है। इतना ही करनेके पश्चात् कल्याणके लिए जो सम्वेगभावना हो जाती है उस भावनाका आदर करें। अपने चित्तसे यह श्रद्धा हटावो कि धन वैभव ही मेरे सब कुछ हैं। अरे वे तो धूलकी तरह हैं। क्या तत्त्व इनमें रक्खा

है। वे सब बाह्य हैं, भिन्न हैं, पुद्गल हैं, अहितरूप हैं, जिनका विषय करने से तृष्णाका रोग उत्पन्न होता है। यों भोगोसे विरक्त होकर, निज-स्वरूपमें अनुरक्त होकर संवेगभावनाको धारण करें जिससे निकट कालमें ही इस संसारके सारे संकटोंसे मुक्ति मिल सकेगी।

६—शक्तिः त्याग

शक्तितस्त्याग भावना— तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणोंमें आज छठवीं भावनाका वर्णन चल रहा है। इस भावनाका नाम है शक्तितः त्याग। शक्तिके अनुसार त्याग करनेकी भावना होना, लोकमें जितने भी क्लेश हैं वे सब ग्रहण-ग्रहणके हैं। अपना घर समझा, अपना धन वैभव समझा, विवाह किया, पुत्र हुए, मित्र गोष्ठी बनाया, लोकमें इज्जत चाही, ग्रहण ही ग्रहण तो यह संसारी जीव करता है, जब कि शांति त्यागमें है। सो शांति के उपायका यह उद्यम नहीं करता। यह जीव बाहरमें तो सबसे, बाहरकी वस्तुवों से तो अलग है ही, त्याग किसका करना है? बाह्यवस्तुवोंको तो यह जीव ग्रहण ही नहीं कर सकता है। जिसको ग्रहण नहीं किए हुए है उसके त्यागकी क्या बात कहें, पर अपने आपके अतरंगमें जो विषय कषायोंकी इच्छाका परिग्रहण किए हुए है उसका त्याग करना होता है। जो अन्तरके विभावोंका त्याग नहीं करता वह बाह्यपदार्थोंका त्याग करके भी अचरजमें रहता है। उसने घर छोड़ा, वस्त्र भी छोड़ा, त्यागी भी बने, साधु भी हुए पर चैन नहीं पड़ रही है। अरे बाह्य चीजोंके त्यागमें चैन मिले ऐसा नियम नहीं है किन्तु अतरङ्गमें जो विभावों का परिग्रहण किया है उसका त्याग हो तो नियमसे चैन हो।

परमार्थरूप शक्तितस्त्यागसे संकटोंका विनाश— इस जीवपर कितना महान् संकट है, कहा संकट है? बाहरमें नहीं दिखेंगे संकट। बाहर में कहींसे भी कुछ उपद्रव नहीं आ रहा है। अपने आपके अंतरंगमें ही कुछ सोच रहे है, कुछ कल्पना कर रहे हैं बस यही संकट बन रहे हैं। संकट कुछ नहीं है। जिस लोकमें बडे-बड़े महापुरुष भी नहीं रह सके उस लोकमें यह अज्ञानी पुरुष मूढ़ अपना कीर्तिस्तम्भ गाड़कर जाना चाहता है, अपना नाम यह रोशन करके जाना चाहता है। अरे तेरा नामसे क्या सम्बन्ध है और यह दो अक्षरोंके नामका रोशन भी हो जाय तो इससे तेरे आत्माको क्या लाभ है? तू अंतरंगसे स्वच्छ चित्त होकर अपने आपमें से सभी विभाव भावनाओंको हटा दे। शक्ति न छिपाकर वास्तविक त्याग कर फिर शांति न मिले तो कहना शक्तितः त्यागका यह अर्थ नहीं है कि शक्ति

के अनुसार त्याग करे अर्थात् शक्तिसे ज्यादा न करे, अर्थात् शक्तिसे ज्यादा न करे उसमें बहुत ही कम करे। ज्यादा न करे, शक्तिके बराबर भी न करें, कम करे ऐसा लोग अर्थ प्रसिद्ध कर लेते हैं, पर इसमें बात यह बसी हुई है कि तुझे आत्महितकी इच्छा होती है तो शक्ति न छिपाकर पूर्ण बलके साथ त्याग धर्ममें है।

वास्तविक त्याग— वास्तविक त्याग है आभ्यंतरके विषय कषायों का त्याग। अंतरङ्गमे आशय खराब बने, खोटी दृष्टि हो जाय इससे बढकर भयंकर कोई विपदा नहीं है। कौन है सहाय इस लोकमे? कौन बचा देगा मुझे दुःखोंसे? और बात तो जाने दो सिरदर्द भी हो जाय तो कितना ही कोई प्रेमी हो, मेरे सिर दर्द तकको भी कोई बांट नहीं सकता और किसका क्या सहारा ले? जो अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको देखता है और तन्मात्र अपने आपमें उपयोग करता है उसके स्वयमेव त्याग हो जाता है। यहां यह बात नहीं समझना कि भीतरका त्याग चाहिए, बाहरका त्याग हो चाहे न हो। जो भीतरसे त्याग करेगा वह बाहरमें ग्रहण क्या करेगा? उसके अतरङ्गमे त्यागका आशय कम है और बोलते ज्यादा हैं इसलिए बाह्य परिग्रह रखकर भी अपने अतरङ्गकी सफाई जाहिर करता है।

यथार्थज्ञानवृत्तिमें त्यागवृत्तिका उपचार— भैया! बाह्य वस्तुवोंको अपना मान लेना यह तो है ग्रहण और बाह्य वस्तुवों को 'अपना न मानना यह है त्याग। पदार्थ तो जहां पड़े हैं पड़े हैं, उन्हें छोड़कर भागे कहां? लो घरको छोड़कर चले आये दूसरी जगह अथवा जगलमें आ जाय, धन वैभव रुपया पैसा भी छोड़ा, इन सबको छोड़कर बाहर आगये, क्योंकि वे सब परद्रव्य हैं और शरीर यह भी तो परद्रव्य है, जब जीव चला जाता है तो यह शरीर इस जीवके साथ कहां जाता है? शरीर तो यहीं पड़ा रहता है, यह शरीर तो नियमसे छूटेगा। इसका क्यों नही त्याग करके आता? खैर यह शरीर छोड़ा नही जाता तो कुछ परवाह नहीं, पर अतरङ्ग में ज्ञान प्रकाश तो लावो कि यह शरीर मेरा नही है, यह शरीर मैं नहीं हूं। मैं तो आकाशवत् अमूर्त निर्लेप शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। तुझे शांति चाहिये तो तू इस दुनियासे आंखें मींच ले, ऐसा जान जा कि इस दुनियामें मेरा पहिचाननहार दूसरा कोई नहीं है।

लोकपरिचयका भ्रम— इस व्यामोही जीव को इस ही बातका तो क्लेश होता है कि मेरे पहिचानने वाले लोग मुझे क्या कहेंगे? इनमें मेरा अपमान हो गया या इनमें मेरा सम्मान क्यों नहीं बढ़ता? अरे ये सब अपरिचित हैं, तेरे आत्माको जानने वाला यहां कोई नहीं है और कदा-

चित कोई जान जाये तो वह आत्मस्वरूपको जान गया। वह व्यक्तिभेद करके तो नहीं जान रहा, फिर सम्मान क्या और अपमान क्या ? तू तो गुणपर्यायात्मक है। तेरी ही शक्ति तेरा ही गुण तेरा ही परिणमन तेरा ही सब कुछ तुझमें है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी तुझमें नहीं है। तू तो सूना है, कोई भी परपदार्थ अथवा कुछ भी पर भाव तेरे स्वरूपका नहीं है। तू तो बिल्कुल सूना है और भरा पूरा भी इतना अधिक है कि तू विज्ञानघन है। तेरे आत्मक्षेत्रमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जो ज्ञान और आनन्दसे रिक्त हो। ऐसा तो तू भरा पूरा है और ऐसा तू पूरा सूना है। तेरे इस विराटरूपको तेरे ही अद्भुत स्वरूपको विरला ही ज्ञानी संत पहिचान सकता है। यह भ्रम छोड़ दे कि मुझे पहिचानने वाले इस लोकमें सैंकड़ों पुरुष हैं, एक भी तुझे जानता नहीं है।

आत्मोद्धारमें त्यागका प्रमुख सहयोग— जितनी भी कल्पनाएँ प्राणी करते हैं वही सब परिग्रह हैं, वही ग्रहण हैं, वही बेचैनीका कारण हैं। तू अपने जीवनमें दिन रातमें किसी भी मिनट तो ऐसा अनुभव कर कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हू। यही त्याग है परमार्थसे। और इस परमार्थसे जो त्याग है इसको रखनेके लिए, दृढ़ करनेके लिए तू बाह्य विषय कषायोंकी प्रवृत्तिको भी कम कर, त्याग दे। त्याग बिना किसीका उद्धार न होगा। चाहे कोई कभी करे, जब तक त्याग नहीं करता है तब तक विपत्तियोंमें ही तो रहेगा। जैसे किसी पक्षी को कोई भोजन मिल जाय, कोई टुकड़ा मिल जाय तो उस पर अनेक पक्षी टूट पड़ते हैं, वह पक्षी परेशान हो जाता है। अरे जिसको ग्रहण किया है उसे त्याग दे तो एक भी पक्षी इसे सताने को न आयेगा। ये मोही मनुष्य अपने परिणामों में बाह्यवस्तुवोंको पकड़े हुए हैं अर्थात् कल्पनाको जकड़े हुए हैं। अरे किन से तू अपने को भला कहलवाना चाहता है ? क्या है कोई संसारमें ऐसा व्यक्ति जिसको शतप्रतिशत सभी मनुष्य भला कहने वाले उसके जमानेमें भी हों या आगे पीछे भी हों। भगवान तकको तो भला कहने वाले शत-प्रतिशत नहीं हैं। हम आप लोगोंकी बात तो दूर रही। किसको ग्रहण करते हो, किसके लिए ग्रहण करते हो ? अपने आपके स्वरूपको देख और जो विभावोंका ग्रहण किया है उनको तज।

भ्रमका बोझ— त्यागमूर्ति निज आत्मतत्त्वके आदर बिना इस जीव ने अपने आपको नहीं जाना और अपने को किन-किन रूप माना यह बताया भी नहीं जा सकता है। जिन-जिन पर्यायोंमें रहा है, कीड़ा मकौड़ा पशुपक्षी जिन-जिन पर्यायोंमे रहा है उन-उन पर्यायोंरूप अपने को माना है

और उन पौद्गलिक विशेषतावोंको अपनाया है। ये ही सब परिग्रह हुये, ये ही ग्रहण हुये। मैं बलवान हूं, धनी हूं, निर्धन हूं, गोरा हूं, सांवला हूं, लम्बा हूं, इतने कद वाला हूं, ऐसा ज्ञानी हूं, ऐसी इज्जत वाला हूं, इतना पढ़ा लिखा हूं,- कितनी ही प्रकारकी इस जीवने अपने आपमें कल्पनाएँ कीं। मूलमे देखो तो यह एक ज्ञान शक्तिका पिण्ड है। कैसा है यह? यह तो पतलेसे पतला बनकर अनुभव किया जा सकता है, अर्थात् बाह्य-पदार्थोंकी जो कल्पना कर रक्खी है उससे अपनेको कुछ बोझल बना रहे हैं, मोटे, ताजे हो रहे हैं, अन्तरमे बोझा वाले बना रहे हैं। उस बोझेको फेंककर सूक्ष्मसे सूक्ष्म बनकर केवलज्ञान प्रकाशमात्र अपनेको अनुभव कर सके तो जान सकेंगे कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है।

परग्रहणमे शान्तिकी आशाका अभाव— अहो! यह जीव कितना ग्रहण किए हुए है, कितना ग्रहणके ग्रहमे जकड़ा हुआ है, धन वैभवके नाश होनेको अपना नाश मानता है, शरीरके नाश होनेको अपना नाश मानता है, अरे ये तो योग हैं, कर्मके सुयोग हैं। जब जो कुछ हो गया, निमित्तनैमित्तिक भावसे ही गया, उसमें तेरी क्या कला है? तू तो केवल भाव ही कर सकता है। भावोंसे अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमे समर्थ नहीं हैं। यह जीव तो मोहवश, भ्रमवश कैसा विकारोंमे लगा है, इसकी कहानी बहुत अगाध है। इसके निर्णयमें क्या जानते हो? प्रथम ही बात देख लो कि हम कितने गिरे, पतित, दुःखी, बेचैन, बंधनबद्ध हैं। अब यह उपाय सोचो कि हम कैसे इस परतंत्रतासे मुक्त हो? वैभव जोड़कर एकभवका कल्पित चैन पा लिया तो क्या कर लिया? कौनसा बड़ा पुरुषार्थ कर लिया? प्रथम तो इस ही भवकी आशा नहीं है कि वह परिग्रह तुम्हारे सुखका कारण बनेगा। ज्ञान है तो आनन्द है, ज्ञान नहीं है तो आनन्द नहीं है।

परिग्रह पिशाच— जिसके पास जितना जो कुछ परिग्रह है उस परिग्रहके सम्बन्धसे क्या हाल हो रहा है? अन्तरमें कितनी आकुलता मचाये हुए हैं? इन सब बातोंका अपने आपसे परिचय पा लो कि परिग्रह शांतिका कारण है अथवा अशांतिका कारण है। जब तक अंतरङ्गमे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विषयकषायोंके परिग्रहका त्याग नहीं होता तब तक इस जीवको शांति नहीं प्राप्त हो सकती है और ऐसा करनेके लिए परिग्रहका त्याग करना होगा। गृहस्थावस्थामें परिग्रहका परिमाण करना होगा। परिग्रहका परिमाण नहीं है तो तृष्णाका इतना प्रसार रहेगा कि कभी चैन मिल ही नहीं सकती और तृष्णाके रोगमें ग्रस्त होकर

वर्तमानमें भी जो कुछ मिला है उससे सुख नहीं पाया जा सकता है क्योंकि दृष्टि तो जो अनागत है उसकी ओर लगी है। इतना और और बन जाये, इतना और, मिल जाये इस ओर दृष्टि लगी है। इस कारण वर्तमानमें जो कुछ समागम मिला है उस समागमका भी यह सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। विकल्पोंको त्यागे, परिग्रहका परिमाण करे, परिग्रहको त्यागे और अंतरंगमें अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करे, धर्मचर्चामें समय बिताये। ज्ञानकी बात अपने उपयोगमें बसाये, ये सब ही तो त्यागधर्म है। त्यागधर्म किए बिना शान्तिके स्वप्न देखना केवल एक बेहूदापन है। हो ही नहीं सकती है शांति इस तरहसे।

त्यागधर्मके लिये श्रावकोंमें दानकी वृत्ति— गृहस्थावस्थामें अपनी शक्तिके अनुसार दान करना यह भी त्याग है। इस मोही जीवको त्याग करनेमें उत्साह नहीं है या दान करनेमें उत्साह नहीं जगता। छोटी-छोटी बातोंका अथवा रोज-रोजकी प्रयोगमें आने वाली बातोंमें कुछ-कुछ त्याग करते रहना यह बहुत महत्त्व रखता है। त्याग कहो अथवा दान कहो, श्रावकोंके करने योग्य चार प्रकारके दान कहे गये हैं— आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान। अविरति सम्यग्दृष्टि तो जघन्यपात्र हैं और देशव्रतीजन मध्यमपात्र हैं और मुनिजन उत्तमपात्र हैं। जो मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं ऐसे पात्रोंको चार प्रकारका दान करना यही है मोक्षमार्ग विषयक उत्तम त्यागधर्म। त्याग भावनामें, शक्तितः त्याग व दान करते हुए बड़ा विवेक होना चाहिए। हम पात्रको आहार दें तो ऐसा दें कि आहार का प्रयोजन है शरीर स्वस्थ रहे। यह पात्र अपने धर्म स्वाध्याय सबमें सावधान रह सके। केवल स्वाद दिलानेका प्रयोजन नहीं है, अथवा बहुत ऊँचे-ऊँचे पकवान १०-२० बनवायें और खूब खिलायें यह प्रयोजन नहीं है। इस प्रयोजनसे देखिये कि शरीर स्वस्थ रहे, बल बढ़े, रस बने, सावधानी रहे, अपने काममें यह सावधान रह सके, ऐसी सब बातोंको निरख कर आहार दान दिया जाता है।

दूसरा दान शास्त्रदान, ज्ञानदान है। उससे बढ़कर और क्या दान कहा जाये, जिस दानके प्रतापसे यह जीव अज्ञानांधकारको दूर करे और ज्ञानप्रकाश पाये, जिससे संसारके बंधन अनन्तकाल तकके लिए छूट जायें, फिर कभी बंधनमें न आ सकें। ऐसी बात किसीके बननेमें निमित्त पड़े अर्थात् ज्ञान दान दे, शास्त्र दान दे तो इस दानकी महिमाको कौन बता सकता है, जो सदाके लिए संकट छुटा दे उसकी कौन महिमा कह सकता है? औषधिदान और अभयदान भी आहारदानकी तरह प्रयोजक हैं।

श्रावक और साधुवोंमें त्यागधर्म पालनेकी पद्धति— यों श्रावक तो परिग्रहका परिमाण करके और पाए हुए समागमसे यों परोपकारमें वितरण करके धर्मकी ओर अपनी दृष्टि बढायें। यह है उनका शक्तितः त्याग और साधु संत बाह्य तथा आभ्यंतर समस्त परिग्रहोंको छोड़कर अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनामें लगें, यही है साधुवोंका शक्तितः त्याग। ज्ञानी पुरुष इस शक्तितः त्यागकी भावना करता है। आत्माका तो सहज त्यागस्वरूप है ही, जो इस आत्मामें है सो तो है, जो नहीं है वह नहीं है। जो बात प्रभुमें है वह हम आपमें है, जो हम आपमें नहीं है वह प्रभुमें नहीं है, पर हम आप अपनेको ऐसा कैसा निरख करके बोले ? शक्तिरूप, स्वभावरूप स्वरूपरूप। मुझमें ज्ञानस्वरूप न हो तो केवलज्ञान प्रकट कैसे हो ? मै त्यागमूर्ति हूं, त्यागस्वरूप हूं, ऐसी स्वरूपास्तित्व मात्र प्रतीति करने वाले पुरुषोंके जो सहज त्यागरूप प्रतीति होती है वास्तविक त्याग उन्हीं पुरुषोंका है। विधिसे विपरीत त्यागका ढोंग करे तो वहां विडम्बना ही होती है।

सविधि त्यागकी सफलता— एक पुरुष था, जाडे के दिन थे। जाड़े से ठिठुरती हुई एक बुढ़ियाको देखकर जो वह रजाई ओढ़े था दे दिया। और आगे चला तो एक खेतमें किसानकी झौंपड़ी बनी थी सो जाड़ेके मारे उस झोपड़ीको नोच-नोचकर तापने लगा। वह किसान मालिक आया और पूछा कि तुम कौन हो ? सो वह बोला कि हम हैं दानीके बाप। अभी जाड़ेसे ठिठुरती हुई बुढिया को देखकर उसे मैंने अपनी रजाई ओढनेको दे दी। उस किसानने वहां पर उसकी खूब मरम्मत की। अरे वहां तो त्याग किया और यहां उस किसानकी झौंपड़ी उजाड़ते हैं। तो त्याग भी विधि सहित हो जो बराबर चल सके और जिससे हम अपनी ओर आ सकें। सत्यस्वरूप त्यागवृत्तिके स्रोत त्यागमूर्ति निजतत्त्वकी भावना करने वाले सम्यग्दृष्टिके जगतके जीवोंपर करुणाका भाव होनेसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

७—शक्तितः तप

तीर्थंकर प्रकृतिकी बंधक भावनावोंमें यह ७ वीं भावना है शक्तितः तप भावना। शक्तिके अनुसार तपश्चरण करने की भावना होना, सो शक्तितः तप भावाना है। तपश्चरणके प्रयोजन अनेक हैं। इस शरीरसे उपेक्षाभाव बढ़ाना है, शरीरको कृश करना है। विषयकषायोंमें उपयोगकी गति न जाय इसके अर्थ कायक्लेश करना, नतोर्क, [illegible] प्रबल साधना

बनाना, इन अनेक प्रयोजनोंमें मूल प्रयोजन सबके साथ है। मूल प्रयोजन यही है कि निश्चय भावमें, स्वभाव भावमें इस उपयोगकी गति बन सके। इन समस्त तपश्चरणोंका मूल प्रयोजन मात्र यही है।

शरीरकी उपेक्षा और अपेक्षा— यह शरीर अशुचि है, दुःखोंको उत्पन्न करने वाला है, विनाशीक है, अस्थिर है, अपवित्र है तथा कृतघ्न की तरह है, मानो उपकारको भूल जाने वाला है। इस देहको कितना ही सजावो, कितना ही खिलावो, कितनी ही सेवा करो, पर यह दुःखका ही कारण बनता है। ऐसे शरीरको क्या आराममें रखना? विषय-कषायोंमें इस शरीरकी गति न बन सके एतदर्थ इसे नाना तपश्चरणोंमें लगाना, यह है शक्तितः तप। यदि आजकी परिस्थितिमें अर्थात् जब कि शरीरका बन्धन लगा हुआ है ऐसी परिस्थितिमें शरीरके समर्थ हुए बिना रत्नत्रयकी साधना नहीं हो सकती है तो इस शरीरको रत्नत्रयकी साधनाके प्रयोजक कार्योंमें लगाना, नाना तपश्चरण करके भगवद्भक्ति आदिक कार्योंमें लगाना ये सब कर्तव्य तो हैं ही।

तपश्चरणका प्रथम प्रयोजन— तपश्चरणका एक प्रयोजन यह भी रहता है कि कदाचित् अशुभ कर्मोंका उदय ऐसा आये कि अनेक दिनों तक भोजन न मिल सके अथवा अनेक व्याधियां, विपत्तियां आ जायें तो उन विपत्तियोंके समयमें यह साधक ज्ञानसे विचलित न हो जाय, क्योंकि इसने आराममें रहकर ज्ञानका अर्जन किया है, सो कदाचित् कभी कष्ट आ जाय तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि यह अपने ध्येयसे चलित हो जाय। तो मैं कभी उपसर्ग उपद्रवोंकी संयुक्तिपर अपने ध्येयसे विचलित न हो जाऊँ, इसके अर्थ यह साधु तपश्चरणका उद्यम करता है। यह भी उसमें एक प्रयोजन है।

तपश्चरणका तात्कालिक लाभ— साक्षात् लाभ तो यह है कि जिस समय शक्ति अनुसार तपश्चरण किया जाता है उस समय इसकी भावना पवित्र रहती है। कायक्लेशकी ओर उपयोग नहीं रहता, किन्तु स्वयं ही सहज ऐसी वृत्ति जगती है कि जिससे यह अपने स्वभावकी ओर ही प्रवृत्त होता है। सो गंदे विचार खोटे ध्यान ये सब समाप्त हो जाते हैं तपश्चरण में। जिन ज्ञानियोंका उद्देश्य निर्मल है, मोक्षमार्गके अनुकूल उद्देश्य जिसने बना लिया है उनका यह तपश्चरण समता और शांतिका साधक होता है। जिनको मोक्षमार्गके रहस्यका पता ही नहीं है, व्रत तप आदिक भी कर रहा हो, किन्तु मैं क्या हूं इसका जिसने ठीक भान नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को उन तपश्चरणोंके करने पर या तो यशकी पोषणाका भाव रहेगा या

पद्-पद पर क्रोधादिक कषायें जगेंगी। इस कारण अपना विशुद्ध उद्देश्य बना लेना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

उपयोगस्वच्छताकी प्रथमावश्यकता पर एक दृष्टान्त— एक बार एक राजाके यहां दो चित्रकार आये। मान लो दो भिन्न देशोंके दो चित्रकार थे। जैसे नाम ही धरलो कोई एक जापानका, एक जर्मनका। दोनों चित्रकारोंने राजासे कहा कि हम लोग बड़े सुन्दर चित्र बनाते हैं। आप अपने किसी महलमें या हालमें बनवाकर हमारी चित्रकला देखें। तो राजा ने एक बड़े हालमें चित्रकारीके लिए दोनोंको कहा और यह भी कहा कि जिसका चित्र बहुत अच्छा होगा उसको खूब पारितोषिक मिलेगा। एक भींत जापानी चित्रकारको दिया और एक भींत जर्मनी चित्रकारको दिया। उन दोनोंके बीचमें एक काठका पर्दा लगा दिया जिससे वे चित्रकार एक दूसरेकी कलाको न देख सकें। अब मानों जापानी चित्रकारने रंग बिरंगे बहुतसे बाह्य साधन जुटाये और ६ महीना तक बहुत-बहुत सुन्दर-सुन्दर चित्रोंका रंगना प्रारम्भ कर दिया और इस जर्मनी चित्रकारने साफ करने वाले मसाले जैसे पहिले कौड़ीका चूना होता था उससे खूब रगड़ना शुरू किया। अब ६ माह तक भींतको रगड़ता ही रहा। भींतको साफ उजला स्वच्छ चमकदार बना दिया। जब ६ महीना व्यतीत हो गए तो राजाने कहा कि अब तुम दोनोंके चित्रोंको देखेंगे। ठीक है महाराज, चित्रोंको देखिये और उनका मुकाबला करिये कि कौनसा चित्र उत्तम है। बीचका पर्दा हटवा दिया गया। अब राजा चित्र देखने लगा तो जिस भींत पर चित्र लिखे गये थे, रंगे गये थे उसे देखा तो ऐसे ही रूखे, कांतिहीन सब चित्र नजर आये। जब उस भींतपर नजर डाली तो वह भींत चमकीली थी, उसमें उस दूसरी भींतके सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो गए। राजा उस को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस चित्र बनाने वाले को बहुतसा पुरस्कार दिया।

उपयोगस्वच्छताकी मूल आवश्यकता— यों ही समझो भैया! कि इस जीवनमें धर्मकी चित्रकारी कर रहे हैं, वर्षों हो गए, करते आ रहे हैं पर इस चित्रकारीमें सर्वप्रथम यह ध्यान देना चाहिए कि हम अपने आत्मा को शुद्धभावनासे, ज्ञानभावनासे, स्वरूप परिचयसे स्वतन्त्रताके निर्णयसे पहिले अपने उपयोगको बिल्कुल स्वच्छ बना डालें, जिस उपयोगमें कषायों का रंग न जमें, जिस उपयोगमें गर्व न ठहरे, विपरीत आशय न आये परके प्रति ममता न जगे। बिल्कुल स्वच्छ उपयोग बना दिया जाय तो फिर थोड़ा भी कष्ट आप करोगे, धर्मपालनकी चेष्टा करोगे, प्रवृत्ति करोगे

प्रवृत्ति करोगे तो वे सब कई गुणा फल देंगे। एक उपयोगको स्वच्छ बनाये बिना धर्मपालनका भी फल न मिलेगा और व्यर्थमें समय भी गँवा दिया जायेगा। वह मात्र थोड़ा पुण्यका कार्य रह जायेगा। लोग सोचते हैं कि हम जितनी चालाकीसे चलेंगे, जितना हम दूसरोंकी आंखमें धूल डालेंगे उतना ही अधिक अपने वैभवका कार्य साध लेंगे। सच पूछो तो वह पुरुष उतना ही अधिक टोटेमें रहता है। कारण यह है कि जब मूलमें भावना ही अशुद्ध है तो उस अशुद्ध भावनाके निमित्तसे पापकर्म का बंध होगा। पुराने पाप उदीरणामें आकर सामने आयेंगे। पुण्यका रस घट जायेगा। क्या तत्त्व पाया ?

शक्तितः तपकी साधना— भैया ! शुद्ध स्वच्छ उपयोग रहे तो धर्म-रसकी प्राप्ति होगी। अनायास ये सुखकी साधनभूत सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। हो प्राप्त अथवा न हो, कैसी भी स्थिति बने, जब शरीर भी मेरा साथी नहीं है, शरीर भी छूट जायेगा तो अन्य पदार्थोंकी क्या तृष्णा करते हो ? कौनसी सिद्धि हो जायेगी, जिसके लिए नीति अनीति नहीं गिनते व अपने उपयोगसे धार्मिकताका अंश दूर कर डालते हैं ? यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। अपने उपयोगको स्वच्छ शुद्ध सत्य प्रामाणिक बनायें तो उससे हितकी सिद्धि है। ये सब तप हैं, उपसर्गोंसे विचलित न होना, अपने मोक्षमार्गके उद्देश्यमें दृढ़ रहना, उपद्रवोंका सामना कर सकना और जान बूझकर भी अनेक कायक्लेश करना, ये सब हैं शक्तितः तपः।

शक्तितः तपका मन्तव्य— शक्तिके अनुसार तप करना, इसका भी यह अर्थ नहीं लगाना कि शक्तिसे ज्यादा तप न हो जाय अथवा शक्तिके अनुपातसे भी तप अधिक न हो जाय यह अर्थ नहीं है। उसका अर्थ यह है कि शक्ति न छुपाकर तप करें। बढ़े चलो शक्ति माफिक अर्थात् शक्तिसे कम न रहकर शक्ति प्रमाण इच्छानिरोध करें, कायक्लेश करें, आरामतलबी छोड़ें। और अब अधिक नहीं बन सकता है तो कमसे कम इतना तो अवश्य ही करना चाहिए कि हम शरीरको आरामतलबीमें न रक्खें। जैसे कि शरीरके अनुरागवश शरीरको बहुत आरामसे रखनेकी प्रवृत्ति होती है मोहियोंकी। इसे काममें जुटाये रहें, इतना तो कमसे कम होना चाहिए। यह शरीर नष्ट हो जायेगा। जितने दिनको मिला है उतने दिन तो परोपकार करलें और अपनी सेवाके लिए दूसरोंकी बाट न जोहें। स्वयं अपना और परका उपकार कर सकें, ऐसी वृत्ति रखना, यह है शक्तितः तप।

गृहस्थोंके योग्य आवश्यक दो बातें— गृहस्थजनोंके लिए तपश्चरण

के लिए दो बातोंका बड़ा ध्यान देना चाहिए। ये बडे कामकी दो बातें कह रहे हैं जिनका अभीसे ही पालन करें और उसमे बढना अपना कर्तव्य समझें। पहिली बात तो यह है कि उदय अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है थोड़ी वहुत आय होती है उसके अन्दर ही धर्मानुसार विभाग बनाकर अपना गुजारा करना और दूसरोंका आडम्बर देखकर उनको चुपड़ी सजावट देखकर अपने मनको असयत न बनाना, स्वच्छन्द न बनाना, ऐसी वाञ्छाएँ न होने देना कि मैं भी यदि ऐसे ही आडम्बर वाला होता तो अच्छा था। ये सब ससारके स्वप्न हैं, मायारूप है। जो मानते हैं कि ये सब मेरे हैं उनके ये कुछ नही हैं। प्रत्येक जीव केवल निजज्ञानस्वरूप है। फिर दूसरोंके वैभवपर क्यों आश्चर्य हो? जो कुछ भाग्यको मंजूर है या यों कह लीजिए जो उदयानुसार प्राप्त होता है उसमे ही तुष्ट रहना, उस में ही अपना गुजारा करना। अब फिर जितना जो कुछ वढे तो धर्ममार्ग मे बढ़े। खूब ज्ञान सीखे, खूब ज्ञानार्जन हो तो उससे क्या नुकसान है? अनुपम लाभ है।

लोकेषणाकी व्यर्थता— जगत्मे दो चार परिचित जीवोंके पीछे हम अपनेको कुछ अच्छा कहलवा ले, बडा कहलवा ले तो इससे कौनसा लाभ है? क्या ये दूसरे खुद मरेंगे नही जिनमे नाम चाहते हैं? क्या ये खुद मरेंगे नहीं जो नाम चाहते है। और क्या बतायें सब अनुभवसे परख लो, सब थोती बातें हैं। काहेका यश, काहेकी नामवरी, किसको यहां क्या दिखाना चाहते हो? कोई तुम्हारी सुन सकने वाला हो तो उसे दिखावो। तुम्हारी बात यहा कोई सुन नहीं सकता, तुम्हे दुःखमे यहा कोई बचा नहीं सकता है। जब ऐसा हाल है तो मैं यहा किसे रिझाता फिरूँ? इस दुनिया में सभी तो मेहिमान हैं। किससे तो प्रेम करूँ किसको रिझाऊँ, किसको प्रसन्न करू, किससे अपनेको भला कहलवाऊँ? ये सब असार बाते है। यह तो एक झमेला है, कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया ये कब तक रहेंगे? कोई कही चले जायेंगे, कोई अभी चले जायेंगे, फिर यहा कोई तत्त्वकी बात तो है नही। तब फिर क्या अपने मनको स्वच्छन्द प्रवर्ताना। जो मिला है जो प्राप्त है उसही में अपना गुजारा करें और धर्मके लिए खूब बढते रहे, ज्ञान करे, ध्यान करे, सत्सगति करे, धर्मचर्चा चले, स्वाध्यायमें प्रगति करें, किसी भी समय क्यो बेकार बैठें, क्यों यहां वहां का चिंतन करे?

गृहस्थयोग्य प्रथम तपका उपसंहार— भैया! ऐसे योग्य अवसरको पाकर सारभूत जो ज्ञानार्जन है उसको क्यों न कर लिया जाय? प्राप्ति

कम है, रोजिगार कम है, आय कम है, तो उसका ऊँचा लाभ उठाना चाहिए। वह तो इस समय का बहुत बड़ा ऊँचा लाभ ले सकता है। यहां कुछ पापोदय नहीं है। पापका उदय उसके है जिसके परिणाम मलिन रहें, पापमय रहें, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनमें चित्त बसा रहे उदय तो उनके पापके हैं। तो पहिली तपस्या तो यह है कि जो आय हो उसमें संतुष्ट रहना। दूसरोंका आडम्बर देखकर न आश्चर्य करना, न चाह करना बल्कि उन्हें दयापात्र देखना, ओह कैसा दुःखी है, कैसा अज्ञानमें ग्रस्त है, अपनी सुध नहीं हो पाती है। पहिला तप तो गृहस्थको करने लायक यह है। कोई करे तो फल पायेगा।

गृहस्थयोग्य द्वितीय तप— दूसरा तप गृहस्थका यह है कि यह दृढ विश्वास बनाएँ कि जो कुछ समागम मिला है, धन वैभव कुटुम्ब परिवार मिले हैं ये जो कुछ भी वस्तुवें प्राप्त हुई हैं नियमसे किसी दिन बिछुड़ेंगी। बिछुड़ेंगी तब बिछुड़ेंगी पर उनके प्रति ऐसा श्रद्धान् तो अभीसे बनावो। जो पुरुष ऐसा समझते हैं उनके समागमके समय आसक्ति नहीं होती हैं। अज्ञानका अंधेरा उनके नहीं रहता है। ज्ञानी जान रहा है कि वे सब भिन्न वस्तुयें हैं, अनित्य हैं, बिछुड़ जाने वाली हैं। सो ज्ञानी पुरुषके कभी किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं हो सकती है। वह तो वियोगके समय यही समझेगा देखो ना, हम तो बीसों वर्ष पहिलेसे जानते थे कि ये सब चीजें बिछुड़ेंगी, आज ये अलग हो रही हैं, बिछुड़ रही हैं। यह तो हम पहिले से ही जान रहे थे। उसे वियोगके समय क्लेश नहीं हो सकता है। दूसरा तप है यह करनेका। जो करेगा सो मजा पायेगा, आनन्दमग्न रहेगा। बतावो इसमें क्या जा रहा है? कहीं शरीरका कष्ट नहीं दिलाया जा रहा है।

भावशुद्धिकी दुर्गमताका अभाव— भैया! बात यहां यह नहीं कही जा रही है कि अनशन करो, पानी न पियो। यह भी नहीं कहा जा रहा है कि जो तुम्हारे पास धन है उसे निकालकर गलीमें फेंक दो। यहां तो यह बात कही जा रही है कि भीतरमें ही उस वस्तुके अनुकूल यथार्थ परिणाम बनाओ। इतना विश्वास बने और ऐसी ही प्रयोगकी भावना बने तो इसमें घटा क्या? नष्ट क्या हुआ? यदि परिणामोंमें उज्ज्वलता आये तो शांति सन्तोष उसके निकट आयें।

निजका अन्यत्र शरणका अभाव— इस लोकमें हम आपका अन्य कोई शरण नहीं है। कहां विश्वास जमाते हो, किसको अपना रक्षक मानते हो? अभी भी देख रहे हो, पुराणोंमें भी सुना है जिसने जिसको

अपना रक्षक माना वह उसकी रक्षा नहीं कर सका। क्या उदाहरण दें? श्रीराम श्रीसीताके स्नेह और विश्वासके समक्ष और किसका उदाहरण रक्खा जाय? वे भी मौजमें नहीं रह सके। रामने सीताको वनवास दिया श्रीराम अपने आपके चित्तमें कितने उद्विग्न हुए होंगे। सीताजीको भी कितना साहस बनाना पड़ा होगा। राम लक्ष्मणकी प्रीति जैसी और किस की कहानी बतावें। कितने-कितने दुःख इन्होंने सहे। जब नारायण बलभद्र जैसे महापुरुषोंमें भी ये दुःखद घटनाएँ हुईं तो हम आप कहां भूले हुए हैं? कौन यहां रक्षक है?

अपने सदाचारपर लोकसहायकी निर्भरता— भैया! किस पर आपका भरोसा है कि ये मेरे मदद करने वाले होंगे? यह विश्वास रखिये कि यहां कोई किसीका मददगार न होगा। अपने आपका आचरण उत्तम है, तो खुद ही खुदके सहायक होंगे। दूसरा कोई किसीका सहायक न होगा। कोई पट्टा नहीं लिखा रखा है प्रभुताका कि आप तो आप ही हैं, आपका नाम यह है ना, तो दसों आदमी मदद करेंगे ही। आपका स्वयं का आचरण जब तक भला है, जब तक आपका ही व्यवहार योग्य है तब तक दूसरे भी सहायक बन रहे हैं। दूसरे सहायक हो रहे हैं, इसमें आप का ही प्रभाव है। आपकी ही कलाकी बात है। यों सब बातोंका निर्णय करके और अधिक नहीं तो इन दो तपोंमें तो अपनी प्रवृत्ति रखना चाहिए।

शक्तितः तपमें समताकी प्रमुखता— तपस्याकी मूर्ति, आभ्यंतर और बाह्य परिग्रहोंसे रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावनामें अपनी ऐसी भावना होनी चाहिए कि कब वह दिन आये, कब वह क्षण आये कि सर्वपरिग्रहोंसे विकल्प त्यागकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूपमें रत रहा करें और ऐसे दर्शन करते हुएमें कैसा भी उपद्रव आये, बडे उपसर्ग आये फिर भी उनसे विचलित न होना, अपना आत्मबल बनाए रहना, ऐसी भावना करना, सो शक्तितः तप भावना है। अनुकूल प्रतिकूल कुछ घटनाएँ आयें उन घटनावोंमें अपना समतापरिणाम रख सकना, धैर्यभाव बना सकना यह भी तप है। इस समतारूप तपश्चरणमें कितना ज्ञानबल लगाना होता है, कितनी उपेक्षावृत्ति रखनी पड़ती है वह अज्ञानीजनोंके द्वारा किया जाना असम्भव है। इस ज्ञानबलको जो संभाले वह ज्ञानी ही है।

तप और त्यागमें कल्याणप्रकाश— भैया! तप और त्याग बिना शांतिका मार्ग कैसे मिल सकेगा? शरीरमें इष्टबुद्धि रखें तब तो शरीर

सुखियापन चाहेगा। जिस ज्ञानी संतकी दृष्टि अपने आपके चैतन्यस्वभाव के प्रतपनमें रहा करती है उसे इसे शरीरमें आराम, शरीरकी सजावट, शरीरका शृंगार ये सब अनुचित मालूम होते हैं। ऐसे परम तपश्चरणकी भावना रखना सो शक्ति तपभावना है। इस तपभावनामें तपा हुआ ज्ञानी संत जब विश्वके समग्र जीवोंपर दृष्टि करता है और उनके वर्तमान दुःखोंको जानता है तो एक परम करुणा उत्पन्न करता है कि ओह यह ही तो सुगम उपाय है निःसंकट होनेका। अपनी ओर दृष्टि करें और संकटोंसे मुक्त हों, ऐसी परमकरुणामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

८—साधुसमाधि

साधुसमाधि भावना— अब साधुसमाधि नामकी ८वीं भावनाका वर्णन कर रहे हैं। जो व्रतशील आदि गुणोंसे मंडित पुरुष हैं ऐसे संतोंके किसी कारणवश विघ्न बाधा भी आ जाये तो उस विघ्नको दूर करना, धर्मकी रक्षामें सहायक होना यही है साधुसमाधि भावना। इस पुरुषके, इस व्रती आत्माके जो उपद्रव आये हैं, किसी प्रकारके विघ्न संकट, संक्लेश परिणाम हुए हैं उसके शीलको भी, व्रतको भी, संयमको भी, धर्म को भी बाधित कर सकता है। सो जैसे जिस झोंपडीमें आग लग जाये, घरमें आग लग जाये तो घरमें रक्खी हुई वस्तुवोंको सुरक्षित बनानेके लिए उस अग्निको शांत किया करते हैं। झट बुलावो नहीं तो अपना सब वैभव समाप्त हो जायेगा, ऐसे ही ये विघ्न बाधाएं अग्निकी तरह हैं। अपने आपमें बसी हुई अग्नि जलानेके लिए यह उपयोग अपने आप अग्नि के पास आये हैं। इन बाधावोंको शांत करना यही है समाधिभावना।

मरण समय साधुसमाधि— कदाचित् मृत्युका काल आ जाये तो वहां इसे अथवा अपनेको समझाना हे आत्मन्! देखो इस लोकमें तू ने अनन्त बार जन्म पाये, अनन्त बार मरण किया। कोई यह अनोखा जन्म नहीं है। इसका विनाश होते समय तू संक्लेश क्यों करता है? जिस जीवन में संक्लेश न हों, जिस जीवनके अंतमें भी संक्लेश न हों, जीवन तो वह अनोखा है। और, देख तू तो अखण्ड अविनाशी ज्ञानस्वरूप चैतन्यतत्त्व है। तेरा कहां मरण है, न तेरा उपजना है, न तेरा मरना है। उपजना भी पर्यायका है, मरना भी पर्यायका है। अर्थात् उत्पाद व्यय पर्यायोंमें हुआ करता है। वस्तुका उत्पाद और व्यय नहीं होता है। तू देहके वियोगको अपना नाश क्यों मानता है? ऐसे अविनाशी ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करके मरणभयको मिटाना और अपनी समाधिका बनाना, इसे साधुसमाधि

कहते हैं। मेरी ऐसी स्वरूपमें स्थिति बने, ऐसी भावनाको साधुसमाधि कहते हैं।

अन्तविशुद्धिसे साधुसमाधि— कोई देखे सुने हुए समाधिके खूब भजन बोल जाय, खूब समाधिमरणके भजन बोले और स्वयंका जब मरणकाल आये तब मोह ममतामें पड़े तो उसे क्या सिद्धि होती है? उसका कहना एक औपचारिक था, झूठ था। जैसे कोई मरनेकी चाह करता है कि मर जाऊँ और जब मरणकाल आता है तब नहीं मरा जाता है। ऐसी ही स्थिति इन शब्दज्ञानियोंकी है। मेरा समाधिमरण हो, मेरा समाधिमरण हो, जब मरणकाल आया तो समाधि नहीं बनती है, इसके लिए अपना यत्न होना चाहिए ज्ञानभावनाका। जीवनमें धैर्य रह सके, जीवनमें भेदविज्ञान रह सके, प्राप्त हुई वस्तुकी भिन्नताकी भावना रह सके तो मरण समयमें भी कुछ पुरुषार्थ चलता जायेगा।

मरणभयके अभावमें साधुसमाधिका प्रसाद— अरे भैया! जीवन भर असयमी जीवन रहा, स्वच्छन्दता रही, इस मायामयी जगत्में यश, नामकी इच्छा बनी रही और यह जगत् सर्वस्व है ऐसा समझा व इसी ढंग की प्रवृत्ति बनी रही तो अब मरण समयमें क्या आशा की जा सकती है कि हम यथार्थ पदसे विचलित न हो सकें। ज्ञानी पुरुष अपनेको और परको यों प्रतिबोध देते हैं कि हे अज्ञानी तू इस शरीरसे वियोग होनेमें संक्लेश कर रहा है, दुःख मान रहा है कि हाय मैं मरा, हाय मैं यहासे गया, देख हजारों, कीड़ो करिके भरा यह शरीर है। दृष्टि यथार्थताकी ओर लगावो, देखो हैं हजारों कीडे शरीरमें कि नहीं। किन्हींके तो विलबिलाते रहते हैं कीड़े। किन्हींके दुर्बीनसे कीडे दीखते हैं और किन्हींके ज्ञानसे समझमें आ सकने वाले होते हैं। कीड़ोंके बिना किसीका देह हो तो बतावो। ऊपर से जरा तेल चुपड़ लिया, चिकना चापड़ा बना लिया, ऐसी बनावट सजावटसे कहीं भीतरमें तो अन्तर न पड़ जायेगा कि भीतरकी हवा बदल जाये या कीड़े बदल जायें। यह शरीर हाड़, मांस, मज्जा, खून, पीपसे भरा है तिस पर भी विनाशीक है, अवश्यमेव नष्ट होने वाला है, ऐसे इस शरीर के नाश होने पर तू समझता है कि मेरा मरण हो रहा है, अरे तू तो अविनाशी है।

समाधिमरणकी मित्रता— हे आत्मन्! देहसे यदि तू अलग हो रहा है तो तेरे अलग होनेके बाद रंगा चंगा नया शरीर मिलेगा। तो इतना बड़ा उपकार जो करे उससे बढकर मित्र और किसे बनाया जाये? यह मरण तो तेरा मित्र है, जो अतिवृद्ध जीर्ण शरीर से हटाकर नये

शरीरमें पहुंचा दे। जो ऐसे बडे अच्छे ढगसे मरे कि मरकर कुयोनिमें न पैदा हो, उत्तम देह मिले जो धर्मका साधक हो, ऐसा उपकार करने वाला तो समाधिमरणरूप मित्र ही हो सकता है, अन्य किसीके वशकी बात नहीं है, और भी देखो— जीवन भर व्रत, तप, सयम किया, उससे जो पुण्यबध किया तो कितने ही पुण्य ऐसे हैं कि जो मरनेके बाद ही आगे आते हैं और फल देते हैं, जिन्दा रहते फल नहीं दे सकते हैं। जैसे व्रत, तपके परिणामके कारण देव आयुका बध हुआ, देवगतिका बध हुआ। जगह-जगह विहार करके खूब भक्ति करे, तीर्थंकरोंके साक्षात् दर्शन करें ऐसी बात जहा मिले ऐसा देवभव मिल जायेगा। तो व्रतकी साधना करके जो पुण्यबंध है उसका फल दिलाने वाला तो मरण है। तब मरण मित्र ही तो हुआ।

कल्याणमय महोत्सव— समाधिमरण एक बड़ा समारोह है, महोत्सव है पर लोकमें यह प्रथा है कि जन्मका तो महोत्सव होता है, पर मरणका महोत्सव नहीं माना जाता और माने कैसे? कोई खटियामें पड़ा हो उसे कोई दूसरा समझाने जाये कि देखो देह न्यारा है, आत्मा न्यारा है, जो कुछ तुम्हें करना हो सो कर जाओ तो वहा तो ४ गालियां मिलती ही। तुम हमारो मरवो चाहते हो क्या? समाधि जन्म किसीने सुना है? नहीं सुना होगा, और समाधिमरण, यह सुना है। समाधिमरणमें समता परिणाम सहित मरण होता है। यों तो बडे विशिष्ट पुरुषोंमें तीर्थंकर होने के जन्मके पहिलेसे ही कल्याणक होता है और गर्भमें क्या, गर्भके पहिलेसे बात चली। तीर्थंकरके गर्भमें आनेके ६ महीने पहिलेसे सब बातें होने लगती हैं, सुन्दर रचना हो जाती है, उनका निर्वाण होता है और निर्वाण के समय भी कल्याणक होता है। पर जिसका निर्वाण होगा उसका कल्याण अवश्यमेव है, ऐसी बात जचनेके कारण गर्भके समय, जन्मके समय और दीक्षादिके समय समारोह होता है। तो गर्भ कल्याणके मनाये जानेका मुख्य कारण उनका निर्वाण होना है। समाधिमरणका बहुत महत्त्व है।

मरणके भेदोंमें बालबाल मरण— मरण ५ तरहके होते हैं बाल-बाल मरण, बालमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण और पंडितपंडितमरण। बालबालमरण तो मिथ्यादृष्टियोंके मरणका नाम है। मोहसे रह रहे हैं, अज्ञान, ममता, सक्लेशमें मर रहे हैं। वह तो है बालबालमरण अर्थात् नादानीका मरण। बाल मायने नादान, नासमझदार और बालबाल मायने डबल कमसमझदार अर्थात् महामूढ़, अज्ञानी। उनके मरणका नाम है बालबालमरण। यहा बालसे अर्थ बालकसे है, सिरके बालसे कहीं न समझ

लेना। जैसे कोई ऐक्सीडेन्टसे बच जाय तो कहते हैं कि बाल बाल बच गए तो ऐसा यहां अर्थ न लेना। बालबालमरणके मायने बालबाल मर गया न लेना। यहां बाल शब्दका अर्थ है अज्ञानी, नासमझ। मिथ्यादृष्टियोंके मरणका नाम है बालबालमरण।

बालमरण— सम्यक्त्व तो हो गया हो, किन्तु व्रत न हुआ हो ऐसे पुरुषका नाम है बाल। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको बाल कहते हैं, बालबाल नहीं। चारित्रकी दृष्टिसे तो बाल है किन्तु सम्यक्त्वकी दृष्टिसे बाल नहीं है। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषके मरणका नाम है बालमरण। बालमरण में समाधि सम्भव है, व्रत न था किन्तु सम्यक्त्व सहित मरण हो तो उसे कुमरण नहीं कहते हैं। मोक्षमार्गी जीवका मरण यहांसे शुरू होता है, पर यह मोक्षमार्गका अभ्यस्ती है अथवा यों कहो कि मोक्षमार्गकी ओर उसकी दृष्टि बनी है, ऐसे व्रतरहित ज्ञानी पुरुषके मरणका नाम है बालमरण।

बालपण्डित मरण— बालपण्डित मरण होता है नैष्ठिक श्रावकजनों के, प्रतिमाधारी पुरुषके, क्योंकि उनके एक देश संयम होता है। इस कारण तो वह पण्डित है किन्तु सकल संयम नहीं होता है। सर्व दोषविधिसे आत्म-स्वभावमें स्थिर हो सके ऐसी पात्रता नहीं जगी है इस कारण यह बाल है। यों नैष्ठिक श्रावकोंको बालपण्डित कहते हैं। ऐसे बालपंडितके मरणका नाम है बालपण्डित मरण।

पण्डितमरण— साधु पुरुषके मरणको पण्डितमरण कहते हैं। जिसकी अन्तर्भावना विशुद्ध है, सर्वविशुद्ध ज्ञानस्वभावकी उपासनामें जो निरत रहा करते हैं, किसी भी कषायभावका संस्कार उनके ५, ७, १० मिनटसे ज्यादा नहीं रह सकता। जलमें रेखा खींची जाय तो वह रेखा जलमें कितने समयको रह सकती है। समझ लीजिए इतना मंद जिसका क्रोध हो, अत्यन्त पहले बांसके हरे पौधेकी तरह जिनके नम्रता प्रकट हुई हो, कितना वह नम जाता है। मायाचार, कुटिलता भी जिसमें न हो, लोभ, तृष्णाके वश भी रंच नहीं हो, ऐसे संत पुरुषोंके मरणका नाम है पण्डितमरण। यह पण्डितमरण पूर्वोक्त सब मरणोंमें प्रशंसनीय है। इतना प्रशंसनीय है पण्डितमरण कि धर्मकी धुन वाला श्रावक भी यह कहता है भाई, जब हमारा मरणकाल हो तो हमारे सब कपड़े निकाल देना, नीचे लिटा देना, हम मुनि अवस्थामें मरण चाहते हैं।... और कहां तुम बेहोश हो गये तो? तो भी कपड़े उतार देना और नीचे लिटा देना। पण्डितमरण के प्रति जहां इसकी भावना चलती हो समझो उसका कितना बड़ा महत्त्व है? फिर जो वास्तविक मायनेमें पण्डित हो, साधु पुरुष हो उसके मरणका

तो लोकप्रभावनामें भी और इसके लिए भी बहुत बड़ा महत्त्व है।

साधुसमाधिका व्यापकत्व व पंडितपंडितमरणरूप महाफल— ऐसे इस साधुसमाधिकी भावना रखना सो साधुसमाधि भावना है। साधु मायने भली प्रकारसे, समाधि मायने समाधान रखना। सर्वदा भला समाधान बनाए रहना इसका नाम है साधुसमाधि। कितना व्यापक शब्द है ? अपने प्रयोजनको बनानेके लिए यह परिभाषा उपसर्गोंके समय भी युक्त है, जीवनके उपद्रवोंके समय भी युक्त है, मरण समयमें भी उपयुक्त है, और हट्टे-कट्टे अच्छे आनन्दसे जीवन बिता रहे हैं उस समयके लिए भी उपयुक्त है। हितकारक भला सम्यक् उचित समाधान बनाए रहना, अपना सम्वेदन जागृत रखना इसे कहते हैं साधुसमाधि। ऐसी साधुसमाधि भावनाके अभिभावक पुरुष अपने विषयमें चूंकि निर्णय कर चुके हैं ना कि संसारके समस्त संकटोंसे छूटनेका कितना सुगम उपाय है, तब संसारके अन्य प्राणियोंपर भी ऐसी भावना रखना है कि अहो इतना सुगम स्वाधीन संकटहारी प्रयोग भ्रमवश नहीं किया जा रहा है इस जीवसे। इसके सद्बुद्धि पैदा हो और अपने आपकी ओर उन्मुखता बने, ऐसी भावनाको साधुसमाधि भावना कहते हैं। इस जीवनमें भी उपद्रव और उपसर्गोंके समयमें भी इतना सदा उपयोग है और मरणके समयमें भी सदा उपयोग है। ऐसे सर्वकाल समाधानरूप अपनेको बनाये रखनेकी भावना करनेको साधुसमाधि भावना कहते हैं। अपने कल्याणके अर्थ इस भावनाको निरन्तर भाना चाहिए। इस भावनाका फल है पंडितपंडितमरण अर्थात् *निर्वाणकी प्राप्ति। ऐसे साधुसमाधि भावको हमारा वंदन हो।*

आत्मप्रतिबोधमें समाधि— अपने आपके चित्तका निरन्तर समाधान होना सो साधुसमाधि है। कैसा भी उपद्रव उपसर्ग आए, वहां पर भी अपने इस ज्ञानमय विशिष्ट आत्माका प्रतिबोध करना यही साधुसमाधि है। देवने उपसर्ग किया हो अथवा मनुष्य तिर्यञ्चोंने किया हो उस समय भी इस साधु ज्ञानीके भय नहीं रहता है। भयका कारण तो धनकी और जीवनकी तृष्णा है। ये दो बातें न रहें फिर भय किसका ?

धनहानिभयमें असमाधि— कुछ धनका नुकसान न हो जाय, इतना टोटा न पड़ जाय, कोई छुड़ा न ले इन बातोंका बड़ा भय होता है और जो अपनी वास्तविक निधिको पहिचानता हो उसका स्वरूप तो मात्र मैं ही हूं। जो मैं हूं, जो मेरा स्वरूप है वह मेरेसे अलग नहीं हो सकता, मैं तो सदा सुरक्षित हूं, ये बाहरी चीजें मुझसे अत्यन्त न्यारी हैं, कुछ और न्यारी हो गयीं तो हो जाने दो, ऐसा जिनके साहस है उनको भय किस

बातका ?

जीवनविनाशभयमे असमाधि— यों ही जीवनका भी एक भय रहता है। मेरा जीवन कहीं खत्म न हो जाय, बीचमें ही कहीं मर न जाऊँ ऐसा भय होता है पर्यायबुद्धि वालेके। अपने इस शरीरको ही यह मै आत्मा हूं ऐसा मानता है। परमार्थतः यह मैं आत्मा अमर हूं, ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, सच्चिदानन्दमय हूं, कैसा गुप्त हूं, कैसे अनोखे चमत्कारके स्वरूप वाला हूं, इसही पर दृष्टि जमें तो उसे भय नहीं हो सकता है।

स्वयंके लिये स्वयं ही स्वयंसर्वस्व— इस दिखती हुई दुनियामें मेरे लिए मेरा कुछ नहीं है, सब असार है, मायामय है, संयोगज चीजे हैं, परमार्थभूत नहीं हैं। इन असार भिन्न मायामय चीजोंको मैं शरणभूत मानता हूं। इसी कारण नाना खटपटे करनी पड़ती हैं। मेरे लिये यहां कौन शरणभूत है ? मेरे मरणके समय यहां मुझे कौन बचाने आयेगा ? मेरा शरीर भी साथी नहीं है तो और कोई साथी हो ही कैसे सकता है ? सच्चा मित्र वही है जो संसारके संकटोसे बचाने के उपायमें लगावे। जिन विषय कषायोंसे हम दुःखी है उन ही विषय कषायोंमें जो लगावें ऐसे कुटुम्बी अथवा मित्रजन मेरे मित्र नहीं हैं। कुछ लाभ है तो वह ज्ञानी विरक्त संत पुरुषके संगसे है। पर जिनके लिए तन, मन, धन, वचन न्यौछावर किए जा रहे है, उनके स्नेहके कारण तो विपदा ही है, शांति नहीं हो सकती है।

बना भिखारी निपट अजान— भैया ! जो कुछ भी चीजें यहां संयोग में आयी हैं सब मिट जाने वाली हैं, पर मोही प्राणी अपने जीवनमें उन्हें छोड़ नहीं चाहता है, धन वैभव और चाहिए और चाहिए ऐसी आशा करके विकल्प मचा रहे हैं। "करिष्यामि, करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम्। मरिष्यामि, मरिष्यामि, मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥" मैं करूँगा, मैं करूँगा इसका तो विचार करते हैं लोग, पर मैं मरूँगा, मैं मरूँगा इस बातको बिल्कुल भुला देते हैं। जो अपने ज्ञानबलसे अपने चित्तको समाधानरूप रख सकते हैं उनसे बढ़कर दुनियामें कोई वैभववान् नहीं है। लाखों और करोड़ोंका धन हो और चित्त हो परेशान विषयोंकी वासनाके कारण तो बताओ इसने कुछ अमीरी पायी क्या ? यह तो बना भिखारी निपट अजान इस स्थितिसे मुक्त नहीं है।

शान्तस्थितिमें मनोरमता— कदाचित् शरीरमें वेदना हो जाय, बड़ा कठिन रोग हो जाय उन रोगोंकी भी परिस्थितिमें ज्ञानीपुरुष अपने चित्तको समाधानरूप रखता है। पूर्वकालमें एक सनत्कुमार चक्रवर्ती हो गये। उनके रूपकी सुन्दरताकी स्वर्गोंमें चर्चा हो रही थी। इन्द्रकी सभामें इन्द्र

व्याख्यान कर रहा था कि मनुष्यलोकमें सनत्कुमार चक्रीसे बढ़कर कोई रूपवान नहीं है। दो देवोंके मनमें आया कि हम देखें तो सही कि क्या यह सच बात है कि सनत्कुमार जैसा सुन्दर व्यक्ति मनुष्यलोकमें नहीं है। आये वे दो देव। उस समय सनत्कुमार अखाड़ेमें व्यायाम करनेके बाद धूलसे लथपथ बैठे हुए थे। उन देवोंने देखा तो देखते ही बोले, वाह बहुत सुन्दर सनत्कुमारका रूप है, जैसा सुना था स्वर्गोंमें वैसा ही रूप है। तो पास खड़े हुए अंगरक्षक लोग कहते हैं कि अभी इनका क्या रूप देखा है? जब ये शृङ्गार करके राज्यके आभूषण पहिनकर दरबारमें बैठे हुए होंगे सिंहासन पर तब देखना, इनका रूप बहुत सुन्दर लगेगा। देवोंने सोचा कि उस समय भी देखेंगे। क्या हर्ज है? कहा अच्छा आज देखेंगे।

बनावटमें मनोरमताका अभाव— अब तो जान बूझकर बड़ा शृङ्गार बनाकर दरबारको सजाकर बड़ी तैयारी करके सनत्कुमारको बैठाया। देवोंने आकर देखा तो सनत्कुमार दोपहरके समय राजदरबारमें आये और देखकर कहते हैं कि अब वह रूप तो नहीं रहा। अंगरक्षक लोग बोले ओह! महाराज इतने शृङ्गारसे बैठे हैं फिर भी कह रहे हैं कि वह रूप नहीं रहा। तो वे देव प्रयोग करके बताते हैं कि अच्छा एक कलसाभर पानी ले आवो। जलसे भरकर कलसा रक्खा गया, उसमें एक पतली सींक डाल दी, फिर सींकको बाहर अलग किया तो उसमें से एक बूँद पानी बाहर गिर गया। देवों ने कहा कि बतावो इस कलसे में से कुछ पानी घटा कि नहीं घटा? अब उसमें घटा हुआ कैसे दीखे? और युक्ति बतला रही है कि पानी घट गया। यों ही क्षण-क्षण रूप और आयु सभी चीजें घटी चली जा रही हैं। दूसरी बात यह है कि जब कोई मनमें यह भाव रखकर बैठता है कि मैं शृङ्गारसहित बैठूँ, मुझे आज बहुत बढ़िया होना चाहिए तो उस के मुख पर खूबसूरती आ ही नहीं सकती है।

ज्ञानियोंके शारीरिक रोगमें भी समाधि— ये ही सनत्कुमार चक्रवर्ती जब विरक्त होकर वनमें निर्ग्रन्थ रहकर तपश्चरण कर रहे थे, वहां आ गया किसी पूर्वभवका असाताका उदय सो कुष्ट रोगसे ग्रस्त हो गये। वहां फिर वे ही देव अपनी सभामें सनत्कुमार चक्री की परमोपेक्षा का गुणानुवाद सुनकर परीक्षा करने आये। जंगलमें पगडण्डीपर वैद्यका रूप रखकर घोषणा करते हुए फिरने लगे। तिसपर भी चक्री मुनिने न बुलाया। तब देव स्वयं उन मुनिराजके पास जाकर बोले कि मेरे पास कुष्ट रोग मिटाने की अचूक दवा है आप करा लीजिये। तब वे मुनि बोले यदि आप संसार-परिभ्रमण रोगको मिटानेकी कृपा कर सकते हैं तो कर दीजियेगा, मुझे

अन्य दवाकी जरूरत नहीं। देव इतनी परमोपेक्षा देखकर लज्जित होकर चरणोंमे गिर पड़ा।

सुन्दरता बढ़ानेका व्यर्थ श्रम— जो सुन्दरता साधारण रूपसे रहती है वह सुन्दरता बनने ठननेमे नही रहती है। लेकिन, आजकल तो मुखमें राख लपेट लिया, ओठोमे लाली लगा लिया और कैसी-कैसी बनावटें करके निकलते है। वे जानते है कि हम तो बड़े अच्छे लगते है पर उनको देखकर लोग मनमे क्या कहते होंगे कि इनमें सुन्दरता तो अब बिल्कुल नहीं जचती। उनकी वह बनावट विरूपतामें शामिल हो जाती है। ये सब असमाधियां है। चित्त समाधिमे रहता ही नही है।

समाधिधर्मका आवासक्षेत्र— धीर रहे, गम्भीर रहे, रागद्वेपसे परे रहे उस भावको कहते हैं समाधिभाव, समता भाव, सत्यभाव। विपय कषायोमे चित्तको लगाकर अपनेको असमाधिरूप नहीं बनाना और उपद्रव उपसर्गोंके आने पर अपनेको कायर नही बनाना, सो सब साधुसमाधि है। अपन सब जानन देखनहार जीव हैं ना। अपनको करना है धर्म। तो अपना धर्म अपने से बाहर कहीं मिलेगा क्या? पुस्तकोमे, मदिरोमे, मूर्तियोमे, गुरुओमे, अन्य लोगोंमे किसी जगह अपना धर्म मिल जायेगा क्या? कहीं न मिलेगा? बाह्य प्रशस्त पदार्थोंकी तो सेवा उपासना इसलिए करते हैं कि उनकी सेवामें रहकर मेरेमें ऐसी समाधि प्रकट रहे, मै अपने आपके धर्मको पा लूँ ऐसी पात्रता रहे, दुर्भावोंका आक्रमण न हो सके, इसी कारण बाहरमे देव उसको ही माना जो आत्मधर्मके प्रकट आदर्श है। जो आत्मधर्मके अवलंबनके प्रसादसे परम आनन्दमय, ज्ञानमय हो गए है वे देव हैं। देवके स्वरूपमे हाथ पैर न देखना, उनकी भक्तिमे किया गया स्थानका श्रृङ्गार सजावट न देखना, लोग भक्ति पूजन करते हैं यह न देखना, किन्तु वहां केवल ज्ञानपुञ्ज देखना। देव ज्ञानपुञ्ज हैं, ऐसे देवका आश्रय हम भक्तिवश करते हैं पर वहां भी परमार्थतः इसलिए करते हैं कि मुझे अपने स्वरूपकी स्मृति हो जाय। ऐसा ही बात शास्त्रकी, गुरुवोंकी समझना।

अन्तःपुरुषार्थ— भैया! परमार्थतः तो अपनी समाधि अपने आपके चित्तको समाधानरूप रखनेसे प्रकट होती है। किसीसे भीख मांगनेसे आनन्द न मिलेगा। किसीकी आशा बनाए रहनेमे आनन्द न मिलेगा। ये बाह्यपदार्थ एक भी मेरे साथ न रह सकें, उन पदार्थोंकी ममता करनेसे आनन्द न मिलेगा। जगत्के दृश्यमान् पुरुष ये सब मायारूप हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं, स्वय दुःखी है उनमें अपना यश, अपना नाम, अपना पोजीशन कुछ

बना लेनेसे आनन्द न मिलेगा। आनन्द तो आनन्दकी जगहसे मिलेगा। जो आनन्दनिधान ज्ञायकस्वरूप है उसकी ज्ञाना द्वारा उपासना करो, आनन्द मिलेगा। पहिले अपने आपको टटोलो, अपने आपका अनुभव करो, अपने आपके स्वरूपमें रमण करो, अपनी आत्मसाधनामें जो अनुकूल पड़े ऐसा कुछ बाहर मिले कोई देव, शास्त्र गुरु उनका संग करो, उनकी उपासना करो। भीतरमें अपनेसे उसे तौल लो और अपने प्रयोजन में अनुकूल यदि बाहरमें मिलते हैं कोई तो उनका संग करो। बाहर देख कर भीतरमें निर्णय न बनावो किन्तु भीतर देखकर बाहरमें निर्णय बनावो। जो अपने आपमें संकल्प विकल्परहित परमविश्रामसे स्थित होनेके कारण आनन्दका अनुभव करके उसके अनुकूल बाहरमें निर्णय देते हैं उनका मार्ग सही है। पहिले खुदको तो समाधानरूप करो, खुदका यह समाधान निज ज्ञायकस्वरूपके अनुभवके बिना आ नहीं सकता।

सम्यक्त्व समाधिके बिना क्रियावोंका भार— अपने आपका सम्यक् दर्शन हो जाय तो यही समाधिभावना है। इसे ही सम्यक्त्व कहते हैं। अपने आपके सच्चे स्वरूपका पता लग जाना, इस स्थितिको किसी भी शब्दसे कह लो। इस स्थितिकी प्रसिद्धि सम्यक्त्व शब्दसे की जाती है। यह सम्यक्त्व जिसमें न हो और वह मंदकषाय रखता हो, बड़ा चारित्र पालता हो, बड़ा व्रत किया करता हो, बहुत बड़ी तपस्या करता हो पर इन सब क्रियावोंका बोझ एक पत्थरकी तरह है। देखा होगा माणिक और पत्थर। माणिक कितना छोटा होता है किन्तु लाखों करोड़ोंकी कीमत रखने वाला होता है और यह पत्थर जिसमें मकान बना करते हैं, ये देशी पाषाण कितने ही ढेर किये जायें तो एक मणिके बराबर मूल्य नहीं रख सकते। तो जैसे मणिका लोकमें आदर है और उस पत्थरके ढेरका आदर नहीं है यों ही समझो सम्यग्दर्शन करके सहित यदि ये चारित्रव्रत, तप हों तो इनकी पूज्यता है, आदर है, महिमा है और सम्यक्त्व बिना ये सब बातें चलें तो पाषाणकी तरह एक बोझमात्र हैं। अब समझ लीजिए अपने आप की सफाई, अपने आपकी दृष्टि, अपने आपकी समाधि कितना महत्त्व रखती है? यही सब अपने लिए समाधिभाव हैं।

अन्तःसमाधि व बाह्यसमाधि— समाधिभावके प्रेमी ज्ञानी संत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर सकट आया देखते हैं तो उन सब संकटोंको दूर करनेका उनका यत्न चला करता है। अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें और यथाशक्ति अन्य जीवोंके चित्तको समाधानरूप बनानेका यत्न करें, समाधिका परिणाम रक्खे यह साधुसमाधि भावना है। इस

भावनाके प्रतापसे यह ज्ञानी पुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृतिका बंध कर लेता है जिसके उदयमें यह त्रिलोकाधिपति तीर्थंकर महापुरुष होता है। यही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाले जीवकी समाधिभावना है।

६—वैयावृत्य

वैयावृत्य भावना— साधुसमाधि भावनामे अभ्यस्त पुरुष वैयावृत्य करनेका सदा भाव रखना है। किसी पुरुषको कोई कठिन रोग हो जाय ऐसी स्थितिमे उसकी वैयावृत्य करना, वैयावृत्यकी भावना करना सो ही वैयावृत्यभाव है। कितना प्रेम भरा होता है एक धर्मात्मापुरुषमें ? उसके लिए किसी प्रकारकी कैद बाधना, सीमा करना यह उसके स्वरूपको बिगाड़ता है। जो हो गये ज्ञानी पुरुष वे सब कुछ स्वयमेव करते हैं जो कुछ उचित है। बुन्देलखण्डका एक एक पुराना चरित्र है। एक राजा मर गया। तो राजमाताको थोड़ा राज्य भार दिया गया और और बाकी भाग बादशाहने अपने हाथमें ले लिया। जब वह राजपुत्र बड़ा हुआ तो राजमाताने निवेदन किया कि अब मेरा लड़का बड़ा हो गया, इसे राज्यभार दिया जाय। तो बादशाहने उसको बुलाया। राज्यमाताने पहिले ही उसको खूब सिखा दिया था। बेटा बादशाह यों पूछे तो जवाब देना यों पूछे तो यों जवाब देना. यों पूछे तो यों जवाब देना। राजपुत्र बोला— मा यदि इनमें से एक भी बात न पूछे तो क्या जवाब दूंगे ? राजमाता बोली— बेटा ! अब तुम जरूर सभी प्रश्नोंका उत्तर दे लोगे। जब तुम इतना तर्क उपस्थित कर सकते हो तो तुम जरूर उत्तर दे लोगे। बादशाहके यहां जब राजपुत्र पहुंचा तो बादशाहने कुछ न पूछा, केवल दोनो हाथ राजपुत्रके पकड़ लिए और कहता है कि बोलो अब तुम क्या कर सकते हो ? तो राजपुत्र झट बोल उठा कि अब क्या है, अब तो मैं रक्षित हो गया। विवाहमें भांवरके समय पुरुष स्त्रीका एक हाथ पकड़ लेता है तो उसे उसकी जीवन भर रक्षा करनी पड़ती है। मेरे तो दोनों ही हाथ आपने पकड़ लिए, अब मुझे क्या डर है, मै तो पूर्ण रक्षित हो गया। तो जिस ज्ञानी पुरुषमे स्वयमेव ही कला प्रकट हुई उसे अब व्यवहारकी कलावोंको क्या समझाना है ? ऐसे पुरुष दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंकी योग्य वैयावृत्य करते हैं।

सेवकतामें स्वामित्व— एक ऐसा कथानक है कि गौतम ऋषिने एक बार बाणसे बिधे हुए पक्षीको अपनी गोदमे पाया तो वह शिकारी आकर लड़ने लगा कि यह मेरा शिकार है, इसे तुम मुझे दे दो। तो गौतम बोले कि यह हस तुम्हारा नहीं है हमारा है। शिकारी बोला तुम्हारा कैसे है ?

हमने ही तो इसका शिकार किया है, हमारे ही द्वारा मारा हुआ वाण इस के बिधा है। तो हमारा ही तो हुआ, तुम्हारा कैसे हुआ ? गौतम बोले कि इस हसका मालिक इसका मारने वाला है या इसकी रक्षा करने वाला है ? न्याय गया राजाके पास। वहा बात आयी कि इस हंसका मालिक कौन है, जो प्राण ले ले वह मालिक है या जो प्राणोंकी रक्षा करे वह मालिक है ? आप सब भी अपने-अपने अनुभवसे बतावो। जो प्राणोंकी रक्षा करे वह मालिक है। जो प्राण ले वह मालिक नहीं है। तो यों ही जानों कि इस विश्वका नेता कौन बन सकता है ? जो सर्वविश्वकी रक्षाका भाव करे वही तो विश्वका नेता बन सकता है। चाहे कोई जानकर सेवा करे, चाहे किसीसे दूसरेकी सहज सेवा बन जाय किन्तु जो सेवक है उसीको ही स्वामी कहा जा सकता है। जो सेवक नहीं है वह स्वामी नहीं है।

सेवकतामें स्वामित्वपर एक दृष्टान्त— घरमें रहने वाला बड़ा बूढ़ा आदमी जो घरका मालिक कहलाता है घरमें १०-५ बच्चा-बच्ची सभी हैं उनका यह मालिक कहलाता है, स्वामी कहलाता है तो घरका यह स्वामी यों ही हो गया क्या ? घरके उन १०-५ लोगोंकी सेवाके लिए, उनका दिल रखनेके लिए अहर्निश परिश्रम करता है वह बड़ा-बूढ़ा, उनकी सेवा करता है यों कहो, उस सेवाके बदलेमें वह घरका स्वामी कहलाता है। स्वामी वह होता है जो सेवा करता है। ज्ञानी अन्तरात्माके विश्वके समस्त प्राणियोंकी सेवाका भाव रहता है और भावना ही नहीं किन्तु उस तरहका आचरण भी होता है कि जिससे विश्वके प्राणियोंका कल्याण हो। तो ऐसी वृत्तिमें, ऐसे भावमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

वैयावृत्यका बाह्यविस्तार व वैयावृत्यका मूलभाव— यहां वैयावृत्य नामकी भावना कही जा रही है। कोई रोगसे पीड़ित मुनि हो अथवा श्रावक हो उसे औषधि देकर निवास देकर सेवा शुश्रूषा करना, विपय करना, आदर करना, दूसरोंके क्लेश दूर करनेका यत्न करना यह सब वैयावृत्य है। वैयावृत्यका अर्थ लोकमें सेवाके नामसे प्रसिद्ध हो गया है। पर वैयावृत्य शब्दका सीधा अर्थ सेवा नहीं है। लोग कहते भी हैं कि हम आपकी वैयावृत्ति करें, मतलब आपकी सेवा करें, पैर दाबें, कुछ करें। पर वैयावृत्यका अर्थ सेवा नहीं है। ऐसे कई शब्दोंका रहस्य है कि जिनका अर्थ और कुछ है पर उनमें जो फलित बात होती है या कारणरूप बात होती है, कुछ सम्बन्धित बात होती है उसका नाम प्रसिद्ध हो जाता है। वैयावृत्त कहते हैं व्यावृत्त पुरुषके परिणामको। व्यावृत्त पुरुषका अर्थ है जो आरम्भ परिग्रह रागद्वेष झंझट इन बातोंसे निवृत्त हो गया है। रिटायर्ड पुरुषकी वृत्ति

का नाम है वैयावृत्य। जो संसार शरीर और भोगोंसे रिटायर्ड हो गया है उसका जो परिणाम है उस परिणामका नाम वैयावृत्य है। अब सोचिये ज्ञानी है, विरक्त है ऐसे पुरुषका परिणाम धर्मात्माजनोंको देखकर उनके दुःखोंदूर करनेका अवश्य होता है। इसलिए इस व्यावृत्त पुरुषके परिणाम पर तो लोगोंकी दृष्टि नहीं गयी और उस परिणामके फलमें जो चेष्टा हुई है उस चेष्टाको लोग ग्रहण कर लेते हैं, और प्रसिद्ध हो गया है वैयावृत्य मायने सेवा। सेवा करके कोई दूसरे पर ऐहसान नहीं करता है किन्तु सेवा करने वाले पुरुषने अपना कल्याण किया, अपनी वेदना मेटी, अपनी अशांति दूर की। ऐसा द्रव्यमें स्वभाव ही नहीं है कि कोई द्रव्य किसी दूसरे पदार्थका कुछ करदे, उसका ऐहसान बना दे। जो कोई भी पुरुष जो कुछ करता है अपनी शांतिके लिए करता है।

सेवा और वास्तविक वैयावृत्य— वैयावृत्य शब्दका सेवा अर्थ क्यों लागू हुआ? उसका मूल इतिहास यह है कि अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष इस उत्सुकताको चाहे कि मेरेमें विषयकषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय आदि कोई गंदी बात न आये तब तो भला है। खोटे परिणाम करके कुछ भी संसारकी बात बना ली जाय, घर, मकान, वैभव, दोस्तजन कुछ भी बना लिए जाये पर यह तो बतलावो कि वह सब पुद्गलोंका ढेर हमारे चैतन्यस्वरूपमें कौनसी किरण पहुचा देगा? किसको आनन्द ला देगा? शांति ज्ञानभावनाके बिना सम्भव नहीं है। वैभव पर शांतिका विश्वास करना निरा व्यामोह है। जो कोई भी पुरुष जो कुछ भी करता है वह अपनी शांतिके लिए करता है। मान लो आप कभी कुछ हमारी सेवा करते हैं तो आप स्वयं अपनी शांतिके लिए सेवा करते हैं और हम तुम्हारी कुछ सेवा करते हैं तो अपनी स्वयकी शांतिके लिए करते हैं। ऐसा स्वरूपमें ही नहीं पड़ा है कुछ कि हम आपका कुछ काम कर दें, आप मेरा कुछ काम कर दें। तो अब जान लीजिए कि सेवा करने वालेने स्वयका कितना लाभ बनाया?

परोपकारका विशुद्ध आशय— भैया! सेवा करके दूसरों पर ऐहसान डालनेकी बात मूढ़ता है। वहां तो यह देखो कि सेवा करके हमने अपने आपका कितना सुरक्षित और सही बना लिया है? वह कल्याणका चाहने वाला पुरुष इस स्थितिके लिए उत्सुक है कि मेरेमें विषयकषाय आदिक भाव उत्पन्न न हों, तो इसका उपाय क्या है? इसका साक्षात् उपाय तो यह है कि ज्ञान और ध्यानमें लवलीन रहें, यथार्थ तत्त्वके ज्ञाता रहें और शुद्ध ध्यान रक्खें, आत्मदृष्टि करें। यदि यह नहीं बन सकता

तो परोपकारमें लगें। दो ही तो बातें हैं या तो अपना स्वच्छ परिणाम बनावें, और यह भी न हो सके तो परोपकारमें लगें। किन्तु परोपकार करते हुए यदि यह भावना रक्खी गयी कि हम दूसरोंका उपकार कर रहे हैं, दूसरोंका ऐहसान कर रहे हैं, दूसरोंको हमारे उपकारके प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, तो परोपकार करनेका श्रम करके भी यह लाभ नहीं उठा पाया।

वैयावृत्यका महत्त्व— वैयावृत्य कितना शुद्ध कर्तव्य है, इसका सम्बन्ध पगचापीसे नहीं, कोई सेवा कर देनेसे नहीं, इसका सम्बन्ध वैयावृत्य करने वालेके स्वयंके विशुद्ध आशयसे है। वैयावृत्य १० प्रकारके मुनिश्वरोंकी की जाती है। इसलिए १० भेद कहे गए हैं और वैसे व्यापक-दृष्टिसे तो सारे विश्वके प्राणियोंके प्रति व्यावृत्त पुरुषका वैयावृत्यरूप भाव होता है। जैसे कि ग्रन्थोंमें भी बताया है और वैसे भी विचारा जाय तो उत्तरोत्तर जैसा विकसित प्राणी हो जाता है, इस अधिक विकास वालेकी हिंसा अधिक पापरूप बतायी गयी है। एकेन्द्रियसे दो इन्द्रियकी हिंसा अधिक, दो इन्द्रियसे तीनन्द्रियकी हिंसा अधिक, उससे चौइन्द्रियकी हिंसा अधिक और उससे असंज्ञी पंचेन्द्रियकी हिंसा अधिक और उससे संज्ञी पंचेन्द्रियकी हिंसा अधिक, यों उत्तरोत्तर क्रूर परिणाम बताया गया है। और संज्ञी पंचेन्द्रियमें ज्ञानी पुरुषकी हिंसा अधिक, उस ज्ञानीसे व्रती ज्ञानी पुरुषकी हिंसा अधिक और व्रतियोंमें भी श्रेष्ठ योगी पुरुषोंकी हिंसा अधिक, यों उत्तरोत्तर अधिक और क्रूर आशयपूर्ण बताया गया है। इस ही आधार पर देख लो वैयावृत्य करनेका महत्त्व उन योगीश्वरोंको बताया गया है।

वैयावृत्यके प्रकार— (१) आचार्योंकी वैयावृत्य कहो याने जो सब की रक्षा करते हैं उनका वैयावृत्य, (२) उपाध्यायोंकी वैयावृत्य याने जो सर्वसाधुवोंको पढ़ायें लिखायें उनका वैयावृत्य, (३) तपस्वियोंकी वैयावृत्य, (४) शिक्षा लेने वाले शिष्यों, साधुवोंकी वैयावृत्य, (५) रोगसे कमजोर संतों की वैयावृत्य, (६) परम्परागत योगियोंकी वैयावृत्य, (७) आदर्श योगीके अनुयायियोंका वैयावृत्य, (८) सर्वसाधुवोंके संघकी वैयावृत्य, (९) मनका हरण करने वाले हों, ऐसे विशिष्ट योगियोंकी वैयावृत्य, (१०) अनगार सर्व-साधुवोंका वैयावृत्य। यों अनेक वैयावृत्यके भेद बताये गए हैं। शुद्धभावसे की हुई सेवाका नाम वैयावृत्य है। शारीरिक सेवाका नाम ही वैयावृत्य नहीं है, क्योंकि वैयावृत्य तपमें शामिल है और तप होता है अपने परिणामोंसे। सो शुद्ध वैयावृत्य पुरुषका जो परमार्थ करुणासहित सेवाका यत्न

होता है वह वैयावृत्य है।

देहको सदुपयोगका अनुरोध— भला बतलावो शरीर हृष्ट-पुष्ट मिला है इसे आलस्यमें रक्खा जाय, आरामतलबीमें रक्खा जाय तो भी यह अपने समयपर ही नष्ट होगा। क्या लाभ पाया ? जब तक इसका समागम है तब तक इससे दूसरोंका उपकार न किया गया और यह स्वयं यों विनष्ट हो गया। इसमें कौनसा विवेक पाया ? दूसरी बात इस शरीर को अपने उपकारमें परके उपकारमें लगाया जाता रहे तो यह शरीर भी ठीक रहेगा। शरीरको आलस्यरूपमें बनाये रहनेका उपाय तो शरीरका विनाश करनेका उपाय है।

मनके सदुपयोगका अनुरोध— भैया ! यह श्रेष्ठ मन पाया तो इस मनसे दूसरोंका भला सोच लिया जाय। ऐसा यह मन मिल गया अनन्त कालमें बहुत मुश्किलसे और इसे यों ही दुरुपयोगमें डाल दिया तो फिर मन मिलनेकी आशा न रक्खो। लो असंज्ञी बन गए, एकेन्द्रिय आदिक बन गए तो फिर कहां यह मन मिलेगा ?

धनके सदुपयोगका अनुरोध— धन मिला है तो आत्माका जो ज्ञानानन्द परिणमन है, अमूर्त भावात्मक परिणमन है वह कहीं धनको नहीं खचोर ले आता या इस शरीरके आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि धन को नहीं समेट पाते। यह तो शुद्धभाव पहिले किया गया था, उनसे उपार्जित जो पुण्यकर्म है उसके उदयका ठाठ है। इसको पाकर कोई गर्व करे अथवा उस धनका दुरुपयोग करे, परके उपकारमें न लगाये तो भाई यह धन तो बिजलीकी तरह चंचल है, जितने काल ठहर गया सो ठहर गया, इसका वियोग तो होगा ही। अरे जब तक यह वैभव है उसका सदुपयोग कर लीजिए।

वचनके सदुपयोगका अनुरोध— ये जो वचन मिले हैं इनसे दूसरों की सेवा कर लीजिए। दूसरोंकी सेवासे कुछ घटता नहीं है, बल्कि सम्मान बढता है। इन वचनोंका अच्छा प्रयोग करें, नम्रता भरी बातें बोलें। इन वचनोंको यदि लट्ठमार ढगसे प्रयोगमें लिया गया तो आगे इन वचनोंके योग्य जो जीव हैं उन जीवोंसे सम्बंधित देह मिलनेकी आशा भी न रखो। जिन जीवोंको जीभ नहीं मिली वे जीव है एकेन्द्रिय। प्रथम तो देखो असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंके जिव्हा रहते हुए भी वे ऐसी भाषा नहीं बोल सकते। गाय, बैल, भैंस, गधा आदि चीचीं, आँ, आँ, में मे किया करते हैं और हम आपको जीभ मिली है तो कैसे-कैसे वचन बोल सकते हैं, भाषा बोल सकते हैं। फिर भी कुछ अपनेमें शक्तिका सदुपयोग न करे,

वचनोंका सदुपयोग न रक्खें तो आप समझो कि क्या बड़प्पन रहा ?

पड़ौसियोंकी उत्सुकता— आपके पड़ौसी आपके धनके भूखे नहीं हैं क्योंकि व्यवस्था ही ऐसी है कि जो कमाये सो खाये पिये। क्या अधिकार है दूसरोंका ? भले ही कदाचित् कठिन दुर्भिक्ष पड़ जाय और प्राणोंकी बाजी लग जाय, तो पड़ौसी पड़ौसी पर टूट पड़े किन्तु किसी कठिन अनिवार्य परिस्थिति बिना पड़ौसी पड़ौसीसे धनकी आशा नहीं रखता। तब पड़ौसी तो केवल प्रिय वचनोंके भूखे हैं। प्रिय वचनोंकी आशा पड़ौसी रख सकते हैं धनकी आशा नहीं रख सकते। पड़ौसीमे ही लखपति का घर है और पास ही १॥ रुपया रोज कमाने वाले मजदूरका घर है पर मजदूर अपने दिलमें यह आशा नहीं रखता कि मेरे को कुछ ये सेठ जी दे दें, क्योंकि जानता है कि मेरा क्या अधिकार है इससे कहने का, मगर हां रक्खे कोई ख्याल तो यह उसकी उदारता है, पर हित मित प्रिय वचन सुननेको तो हर एक कोई उत्सुक है।

दुर्वचन बोलनेका अन्याय— वचन बोलनेकी शक्ति है तो इसका हम आप सदुपयोग करें, जिससे स्वय भी सुखी हों और चार लोग भी सुखी हों। अप्रिय वचन बोलकर खुद तो अशात होता ही है तो ठीक ही है किन्तु उसके वातावरणमे रहने वाले अनेक पुरुष भी अशांत हो जाते हैं। जैसे कोई भैंस कीचड़ भरे पोखरेमे कूद पड़ती है तो उसका शरीर तो कीचड़से भिड़ेगा ही किन्तु उसके किनारे निकट खड़े हुए पुरुष भी कीचड़ से लथपथ हो जाते हैं। तब समझ लीजिए कि अप्रिय वचन बोलने वालों ने कितनों पर अन्याय किया है, खुद दुःखी रहा, जिससे बोला वह दुःखी रहा और उसके ससर्गमें आने वाले अनेक लोग दुःखी रहे। तो तन, मन, धन, वचनसे सेवाका परिणाम रखने वाले जीव कितना उपकारी होते है, पता लगा लीजिए।

वैयावृत्त्यके विवरणसे मूल शिक्षा— इस वैयावृत्त्य शब्दके ही अर्थसे दो काम तो अपने समझ लीजिये— (१) निजशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि रखिये, उसके निकट रहिये, आश्रय करिये, सबको भूल जाइये, सबसे ऊँचा यह काम है, महान् पुरुषार्थकी बात है यह। इस का सस्कार रखिये और ऐसा उपयोग न बनाया जा सके तो परके उपकार में अपनी वृत्ति रखिये, परका उपकार भी हम अपने भले के लिए कर रहे हैं कि मेरा परिणाम सही रह जाय, विषय कषायोंमें न बह जाय। इसके लिए परोपकार धर्म अगीकार किया जा रहा है। दूसरों पर ऐंठ बगराने के लिए, दूसरोंको ताना मारनेके लिए परोपकार नहीं होता। किसीको

बढ़िया भोजन खिला दिया जाय और खा चुकने पर यों कहा जाय कि कितना बढिया भोजन खिलाया तुम्हें, हां साहब बहुत अच्छा खिलाया। ऐसा तो तुम्हारे बापने भी कभी न खाया होगा। अहो इस ताने से उसके चित्तमें यह आ जाता हैं कि कोई ऐसी दवा पी ले कि अभी कैसे हो जाय। परोपकार ताना देनेके लिए होता है क्या ? परोपकार तो इस विवेकी ने अपनी रक्षाके लिए किया है। इस कारण परोपकार करके भूल जाना चाहिए कि मैंने किसीका परोपकार किया।

वैयावृत्त्य भावनाकी आस्था— भैया! करते जावो परोपकार और भूलते जावो इस बातको कि मैंने परोपकार किया। यों निष्कपट भावसे शुद्ध आशय सहित जीवोंकी सेवा करना, उनको संकटोंसे बचाना, धर्ममें उन्हें स्थिर करना यह सब वैयावृत्त्य है। ऐसी भावना ज्ञानी पुरुषमें होती है और इस भावनाके प्रसादसे वह ऐसी महती पुण्य प्रकृतिका बंध करता है कि जिसके अगले भवमें उत्पन्न होने से पहिले ही दुनियामें आनन्दकी खलबली मचने लगती है। जन्मके समयमें भी और उनके जीवनके अनेक विशेष समयोंमें भी। कुछ भी हो इसकी भी आशा न करना, किन्तु अपना प्रथम बचाव करना है और आत्मतत्त्वका शुद्धस्वरूप निहारना है। इसके प्रयोजनमें वैयावृत्त्यकी भावना रखनी चाहिए।

वैयावृत्त्यमें प्रभुकी आज्ञाका पालन— जो प्राणी समर्थ हैं तनसे, धनसे, वचनसे ऐसे पुरुष भी अपने बलको छिपायें तो वे अपनी उदारता का घात करते है। यदि वे वैयावृत्य नहीं करते हैं तो उन्हें धर्मरहित समझना चाहिए। अपनेमें सामर्थ्य हो और उस सामर्थ्यका उपयोग न करें, दूसरे रोगी दुःखी अशरण पुरुषोंको देखकर, धर्मात्माजनोंको देखकर उनकी सेवा करने का परिणाम नही हो, तो उन्हें धर्मरहित समझना चाहिए। उन्होंने तीर्थंकर प्रभुकी आज्ञाका पालन नहीं किया है, जो प्रभु का उपदेश है उसे नहीं माना है। अपना आचरण उन्होंने बिगाड़ा है और धर्मकी प्रभावना भी नहीं की है। जिन जीवोंको धर्मी पुरुषोंको देखकर भी उनमें अनुराग नहीं जगता है, वैयावृत्त्यका भाव नहीं जगता है तब यह समझना चाहिए कि उनमें धर्मकी रुचि उत्पन्न नही हुई है। जिसको धर्मसे प्रेम होता है, उसको धर्मात्मा जनोंसे अवश्य प्रेम होता है।

वैयावृत्त्य करने वालेकी प्रमुख दृष्टि— धर्म कहीं यों ही अधरमें नही लटका करता है। जो आत्मा है, धर्मात्मा है वही तो धर्मकी मूर्ति है। वैयावृत्त्य नामक तप बहुत ऊँचा स्थान रखता है। वैयावृत्त्य करने वाले पुरुष भक्ति बढ़ाते हैं परमेष्ठीमें, आस्था बढ़ाते हैं परमेष्ठीमें। अपने कल्याण

की भावना उनमें प्रबल होती है। और भी देखो—धनका खर्च कर देना सुगम है पर अपने तनसे अपने श्रमसे वैयावृत्त्य करना, रोगियोंकी सेवा करना या अनेक प्रकारसे उनकी वैयावृत्त्य करना यह कठिन है। वैयावृत्त्य में अन्तरमें कितना उत्कृष्ट परिणाम भरा हुआ है ? वैयावृत्त्यके रुचियाको अन्यके अवगुण ढाकनेका और गुण प्रकट करनेका एक स्वभाव हो जाता है। जो दोषदृष्टा पुरुष हैं उनके वैयावृत्त्य सम्भव नहीं है। ऐसे ही गुणोंकी दृष्टि रखनेकी तीव्र रुचि प्रकृति होती है और इस परिणामसे वे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करते हैं।

१०—अर्हद्भक्ति

अर्हद्भक्तिका अर्थ—यह अर्हद्भक्ति नामकी १० वीं भावनाका वर्णन चल रहा है। अरहंतकी भक्ति करना सो अर्हद्भक्ति है। अरिहंत शब्दका अर्थ क्या है ? अरिहंत नामका कोई पुरुष न था, किन्तु जो पूज्य पुरुष हुए हैं उनका ही नाम अरहंत है। जो पूज्य पुरुष हैं, पूज्य आत्मा हैं उनका नाम अरहंत है। 'अर्ह पूजायां' धातु है उससे अर्हत् बना है। अरि मायने जीवके शत्रु, जीवके शत्रु हैं रागद्वेष मोहभाव अथवा घातियाकर्म, मोहनीयकर्म, इनका जिसने विनाश कर डाला है ऐसे पवित्र आत्माको अरहत कहते हैं। ऐसे पवित्रप्रभु सर्वज्ञ निर्दोष आत्मा की भक्ति करना सो अर्हद्भक्ति है। सकल परमात्माके गुणोंका अनुराग होना इसका नाम है अर्हद्भक्ति।

अर्हद्भक्तिका प्रताप—जिसने पूर्वजन्ममें इन सोलह भावनावो को भाया था और उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ था, अब इस भवमें उनके गर्भ समयसे लेकर निर्वाण समय तक देव और इन्द्र और बड़े-बड़े पुरुष प्रभुसेवामें उपस्थित रहते हैं। तीर्थंकर नियमतः मोक्ष प्राप्त करते हैं इसलिए तीर्थंकरकी बात विशेषतया कही जाती है। वैसे अरहत जो तीर्थंकर नहीं हुए वे भी होते हैं, फिर भी ये ये अरहत भगवान् ऐसा सुनते हुए विशेषतया तीर्थंकर अरहंतपर दृष्टि दीजिए। यह सकल परमात्मा इनके तीर्थंकर अरंहत जन्मकालमें गर्भ कालसे ६ महीना पहिलेसे बड़ा विशेष महोत्सव हुआ था। बराबर १५ महीने उनके माता पिताके आंगनमें रत्न-वृष्टि हुई थी। जन्मकालमें इन्द्रने अभिषेक किया था। तप कल्याणकमें बहुत समारोहके साथ वनमें उत्सव मनाया था, जब कि उन्होंने दीक्षा ली थी। जब केवलज्ञान हो जाता है तब समवशरणकी रचना हुई थी।

तीर्थङ्करका मौन और दिव्य उपदेश—प्रभु तीर्थंकर मुनि अवस्था के बाद मौनसे रहे। वे फिर कभी बोले ही नहीं। केवलज्ञान होनेपर दिव्य-

ध्वनि खिरती है वह बोलनेमें शामिल नहीं है, पर वचन अवश्य हैं। इच्छा करके रागसहित वचनरचना बनाकर वे नहीं बोले। मुनि अवस्थाके बाद उन्होंने पूर्ण मौन रक्खा। गृहस्थावस्थामें तो बोल रहे थे, पर मुनि होनेके बाद पूर्ण मौनसे रहे। छद्मस्थ अवस्थामें रहते हुए, अल्पज्ञ रहते हुए वे क्या बोलें—क्या देशना करें? ऐसी बड़े पुरुषोंकी प्रकृति होती है। केवलज्ञान होनेपर दिव्यध्वनि खिरती है और तब बहुत बड़ी सुन्दर रचना की जाती है। कोई साधारण पुरुष व्याख्यानके लिए आये तो मंडप बनता है, बड़ा प्रबंध होता है और फिर जो प्रभु हो, सर्वज्ञ हों, उनकी जब दिव्यध्वनि खिरती हो तो उनका मंडप बनानेकी, समवशरण बनानेकी सामर्थ्य मनुष्योंमें भी न थी। समवशरणकी रचना देवों और इन्द्रोंने की। ऐसे तीर्थंकर देवकी भक्ति करना सो अर्हद्भक्ति है। अर्हद्भक्तिकी प्रधानता उनके गुणविकासको लक्ष्यमें लेकर चरित्रके स्मरणमें है।

भक्तोंका लक्ष्य और प्रभुकी ओर आकर्षणका कारण— प्रभुके चरणोंमें बड़े पुरुष चक्री इन्द्र देव खिचे चले आ रहे हैं। यह किसका प्रताप है? यह प्रभुकी वीतरागताका प्रताप है, ज्ञान और वैराग्यका प्रसाद है। ज्ञान और वैराग्यकी ओर भक्तकी दृष्टि होती है और उससे अर्हद्भक्ति प्रबल हो जाती है। जिसके भक्तिका कुछ लक्ष्य नहीं है उसकी भक्ति नौकर और मालिकके हिसाब जैसी रहती है। हे प्रभु! मुझ गरीब की बिनती सुन लेना, मुझे कष्टोंसे उबार देना, तुम्हीं एक तरनतारन हो, तुम्हारे पूछे बिना हमारा गुजारा ही नहीं है, केवल एक दीनता भरा यह व्यवहार है, पर प्रभुसे वह मिलन नहीं हो पाता है जिस मिलनमें प्रभुके निकट सगतिका लाभ प्राप्त हो। कैसे लाभ मिले? जब प्रभुके गुणोंकी बात ही नहीं है तो अन्तरसे शुद्ध अनुराग कैसे बढ़े, और शुद्ध अनुराग हुए बिना प्रभुपूजाका कोई फल नहीं मिल सकता है। विषयकषायोंके पोषनेके लिए, अपने दुनियाकी स्वार्थकी पूर्तिके भावसे जो पूजा की जाती है वह है क्या? एक रिश्वतसी समझो। जैसे यहा कोई किसीसे रिश्वत देकर अपने संकट मिटाता है ऐसे ही इस प्रभुसे भी अपने संकट मिटाने के लिए पूजा की है। वह आल्हाद कहा है, उतना प्रेम कहां है, वह अभेद स्वभावमग्नता कहां है? प्रभुके अन्तस्वभावकी दृष्टि करके जो अर्हद्भक्ति होती है उसके समय जो विशुद्धि जगती है उससे यह तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है।

तीर्थंकर प्रभुके जन्मतः अतिशय— तीर्थंकरका क्या स्वरूप है? उनकी यह चर्चा है। सर्व अन्य मनुष्योंमें असम्भव ऐसी उत्कृष्ट वृत्ति

तीर्थंकर महापुरुषमें होती है जिसके जन्मकालसे ही इतने अतिशय होते हैं। सुन्दरशरीर, सुगंधित शरीर, पसेवाकार नहीं हो, नीहार नहीं होना, प्रियहित बोलनेकी उनकी प्रवृत्ति रहे, जिनके शरीरमें भी अतुल्यबल हो, जिसका रुधिर श्वेत रंगका हो, जिसके शरीरमें १००८ लक्षण हों, शरीर सुडौल वज्रकी तरह मजबूत हो, ऐसे जिसके जन्म कालसे ही अतिशय है।

सुभिक्षता, गगनगमन व चतुर्मुखदर्शनका अतिशय— केवलज्ञानके समय याने जब उन्हें कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है, पूर्ण सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है, तब अनेक अद्भुत अतिशय और होते हैं। वे जहां विराजे हुए हैं उसके चारों ओर चार चार सौ कोस तक सुभिक्ष होता है। कोई संकट नहीं रहता है। सभी लोग सुखी रहते हैं, किसी भी प्रकारका किसीके रोग नहीं होता है। न अतिवर्षा और न अकाल रहता है, किसी भी प्रकारके उपद्रव नहीं रहते हैं। ये सब केवलज्ञान होने पर अतिशय होते हैं। ये केवली प्रभु फिर जमीनपर चलते हुए न मिलेंगे। वे आकाशमें ऊपर चलते हैं। ऊँचा मुख उठाकर अपन देखें तो उनके दर्शन हो सकते हैं। भगवान हम लोगोंकी तरह खेलते बोलते हुए कहीं बीचमें मिल जायें क्या ऐसा हो सकता है ? आप सोचो तो सही कि जो वीतराग है, सर्वज्ञ है जिनके क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिग्रह आडम्बर कुछ भी नहीं है वे हम लोगोंको कैसे मिलेंगे ? वे बोल न सकेंगे। उनकी तो यह बात है कि वे सारे विश्वको जानते हैं फिर भी आत्मीय आनंद रसमें लीन रहा करते हैं। उनके समवशरणके अनुपम देवरचना होती है, जहां वे आकाशमें ही ऊँचे स्थलपर विराजते हैं। मनुष्योंके वहां पहुंचनेके लिए चारों ओर सीढियां होती हैं। वहां मनुष्य तिर्यञ्च अंधे, लगड़े, लूले सब जाते हैं। उन सब जीवोंको प्रभुके दर्शन होते हैं। चारों ओर सभा जुड़ी है, कहीं मनुष्य बैठे हैं, कहीं तिर्यञ्च बैठे हैं, कहीं देव बैठे हैं, कहीं स्त्री बैठी हैं, कहीं मुनि बैठे हैं, सबको उन सर्वज्ञदेवके दर्शन होते हैं।

चतुर्मुखदर्शनमें रहस्य— भैया ! उस मंडपमें एक आफतसी आ सकती है। क्या ? लोग तो यही चाहेंगे कि जहा भगवानका मुँह हो वहां ही सामने बैठें। पीठ पीछे कोई बैठे तो उसे तो दर्शन ही न होंगे। तो फिर एक झगड़ासा मच जायेगा। पर भगवान का ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर दिखाई पड़ता है। स्फटिक मणिकी तरह परमौदारिक उनका शरीर होता है। सो जैसे स्फटिकमणिमें आगे और पीछे दोनो ओर प्रतिबिम्ब दाखता है यों ही उन सर्वज्ञ प्रभुके ऐसा अतिशय है कि चारों ओर बैठे हुए लोगोंको उनका मुख दीखता है। लोकमें प्रसिद्ध है

कि भगवान् सर्वज्ञदेव चतुर्मुख होते हैं, तो उनके चार मुख नहीं होते हैं किन्तु अतिशय ऐसा है कि चारों ओर उनका मुख दीखता है।

प्रभुके उपसर्गका व कवलाहारका अभाव— प्रभु पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता। उनमे प्रभुता ही ऐसी है कि उन्हें कोई छू भी नहीं सकता है। उन्हें किसीसे सेवा करवानेकी क्या जरूरत है? उनके अनन्त बल प्रकट होता है। वे प्रभु उपसर्गसे रहित हैं। अब भगवान् मुखसे भोजन नहीं किया करते हैं। भला कल्पना तो करो कि जिसकी आत्मा निर्दोष है, सारे विश्वका ज्ञाता द्रष्टा है, ज्ञानपुञ्ज है, ऐसे महापुरुष, ऐसे प्रभु अब भोजन क्यों करेंगे? उनके वेदना हो तो भोजन करें, बल कम हो तो भोजन करे, प्रभुके अनन्त बल है, प्रभुके कोई वेदना नहीं है, फिर उनके किसी प्रकारका आहार क्यों हो? थोड़ी यह शंका कर सकते हो कि जब आहार न किया जायेगा तो शरीर टिका कैसे रहेगा? अरे शरीर आहार करनेसे ही नहीं टिका रहता है। शरीर टिके रहनेके अनेक अन्य कारण हैं।

कवलाहार विना किसी ससारी प्राणीके भी देहका टिकाव सम्भव— किसीका शरीर तो विना मुखसे आहार लिए टिका रहता है। एकेन्द्रिय जीव, ये जो वृक्ष हैं इनके मुख कहा है पर इनका जो शरीर है उसमे शरीर की वर्गणाएँ आती रहती हैं और वे पेड़ पानी व मिट्टीका लेपरूपसे ग्रहण करते हैं, इनके आहारकी ऐसी ही पद्धति है। पक्षियोंके जो अंडे हैं उनको कौन आहार देता है? कितने ही दिनो तक अडेमे पक्षी रहा करता है। उस अडे पर पक्षी बैठ जाता है और अपने शरीरकी गर्मी उस अंडेको देता रहता है, वह गर्मी अडेके भीतर रहने वाले पक्षीको मिलती रहती है। ऐसे ही देवोंके जब कभी हजारों वर्षमे भूख लगती है तो उनके गलेसे अमृत झर जाता है।

देवतावोंके कवलाहारकी मान्यतामें स्वार्थका प्रवेश— भैया! लोक में स्वार्थवश ऐसी प्रसिद्धि हो गयी है कि काली मां अथवा अमुक देव ये बलि लेते हैं, ये मांसका भोजन करते हैं, ऐसा लोगोंने स्वार्थवश प्रसिद्ध किया है। खुदको खाना है इसलिए ऐसा करते हैं। खुद तो धर्मात्मा बने रह जायें लोगोंकी दृष्टिमे और मांसका भक्षण भी कर लें। इसके लिये ये सब उनके उपाय हैं। देवतावोंके नाम पर देवी देवतावोंमें पशुबलि चढ़ाते हैं। चढ़ाते हैं अपने ही खानेके लिए। किसी भी देवताका यह स्वरूप नहीं है कि वह मुखसे कुछ खाये पिये। मांसकी तो बात जाने दो। तो उन देवोंका शरीर टिका कैसे रहता है? उनकी पद्धति कुछ और ही

प्रकारकी है।

प्रभुके देहका नोकर्माहार— अब यहां देखिये प्रभुका शरीर कैसे टिका रहता है? तो यह बताया है कि उनके किसी भी प्रकारका आहार नहीं है किन्तु सीधे ही शरीरकी वर्गणाएँ शरीरमें प्रवेश करती हैं और उन का शरीर टिका रहता है। जैसे कोई मुखसे भोजन नहीं भी करे तो भी इन्जेक्शनके बल पर कई दिन तक रहा करता है। जब कई दिन तक कोई वेदना रहती है तो गुलूकोजका इन्जेक्शन लगाते हैं और उसका शरीर भोजन किया जैसा कई दिन तक बना रहता है। फिर प्रभुका तो एक शुद्ध शरीर है उसमें शुद्ध वर्गणावोंका प्रवेश है, उनको भोजनकी क्या जरूरत है और वैसे भी सोचो कि जो खाये पिये वह प्रभु ही कैसे हो सकता है? प्रभु जब गृहस्थावस्थामें थे तब आहार करते थे, किन्तु अब प्रभु होनेपर वे कवलाहारसे रहित हैं।

समस्त विद्यावोंका ऐश्वर्य तथा देहके नखकेशकी वृद्धिका अभाव— वे समस्त विद्यावोंके स्वामी हैं। केवलज्ञान होनेसे पहिले सर्वविद्यावोंका अधिपति नहीं कहा जा सकता है। कुछ पुरुष ऐसे हैं छद्मस्थ अवस्थामें कि वे सर्वविद्यावोंके स्वामी बन जायें, किसीको किसी विषयका ज्ञान है किसीको किसी विषयका ज्ञान है। सर्वविद्यावोंका ज्ञान किसीको अल्पज्ञता में नहीं हो सकता है। जब केवलज्ञान हुआ तो समझो कि सर्वविद्यावोंका ऐश्वर्य प्राप्त हो गया। प्रभु होनेके बाद उनके नख और केश नहीं बढते हैं। केवलज्ञानी पुरुषकी बात कही जा रही है। अगर उनको बाल बनवानेके लिए और नाखून कटवानेके लिए नाईकी जरूरत पड़े तो क्या इसमें राग की प्रवृत्ति नहीं जचती है? अथवा हाथसे कचलुञ्च करे तो क्या कुछ रागवृत्ति नहीं जगती है। इनके नख और केश प्रकृत्या नहीं बढते हैं। ऐसा अद्भुत अतिशय उनके हो जाता है। जिनका मन शुद्ध है, जिनका परिणाम निर्मल है ऐसे पुरुषोंका, जैसे यहा दीख जाता है कि शरीर स्वस्थ रहता है अथवा जिसने पूर्वकालमें धर्म किया ऐसे पुरुषका शरीर स्वस्थ रहता देखा गया है ना। फिर तो ये प्रभु परमस्वस्थ हैं, इनके परमौदारिक है।

निर्मल आशयका प्रताप— लक्ष्मणको जो बिसाही गयी थी विशल्या वह विशल्याके भावसे पहिले तो थी देवगति जीव और उससे पहिले थी चक्रवर्तीकी पुत्री बड़ी सुन्दर रूपवती। उसे लोग हर हर ले जायें, पर वह कभी अपने शीलसे डिगी नहीं। एक बार एक कोई विद्याधर उस लड़की को उठाकर ले गया। पीछेसे लोगोंने हमला किया, पीछा किया, तो उस

लड़कीको एक घनघोर जंगलमें छोड़कर वह चला गया। अब उस जंगलमें किसीको पता ही न पड़ा। वह वहीं रहने लगी। वहां कोई पुरुष नहीं, कोई बच्चा नहीं, चारों ओर गहन बन था। जो कपड़े पहिने थी वे कितने दिन चले। हजारों वर्ष बिता दिए जंगलमें रहते हुए। अब समझ लो कपडे भी न हों या कैसी भी स्थिति हो किन्तु वहां भी वह धैर्य रक्खे रही, तपस्या करती रही और एक शुद्ध ब्रह्म स्वरूपकी भावनामें अपना समय बिताया। उस लड़कीको अजगरने लील लिया। उसी समय चक्री उस लड़कीका पिता ढूंढता हुआ पहुच गया। तो पिताने देखा कि लड़कीको अजगर लीले हुए है। उस अजगरको मारनेके लिए चक्रवर्तीने हथियार उठाया तो वह लड़की हाथ जोड़कर प्रार्थना करती है कि अब इसकी जान मत लो। उस लड़कीने उस अजगरके प्राण बचाये और समाधिभाव पूर्वक मरण किया। वहांसे चलकर विशल्या हुई। जिस विशल्यामें इतना पुण्य प्रताप था कि उसके नहाये हुए पानीका छींटा पड़ जाय तो रोगीका सारा रोग दूर हो जाये।

निर्मल आत्माका अतिशय— आपको याद होगा पद्मपुराणमें पढा होगा कि जब रावणने लक्ष्मणको शक्ति मारी थी युद्धकालमें तब लक्ष्मण बेहोश हो गये थे। तो लोग कहते हैं कि रामने एक बूंटी मंगायी थी और हनुमान इसको लेने गये ते। वह बूंटी कहा थी, क्या थी ऐसा न जाननेके कारण वे पहाड़को उठाकर ले आये थे और वहां लक्ष्मणकी मूर्छा दूर की गयी थी, ऐसा लोग कहते हैं। पद्मपुराणमें यह बताया है कि विशल्याका बड़ा पुण्य प्रताप था। सो लोगोंने कहा कि यदि विशल्या यहां आ जाये तो उसके देखते ही लक्ष्मणकी मूर्छा भाग जायगी। तब उस विशल्याको लाने का काम हनुमान जी को दिया गया। हनुमानकी कामदेवमें गिनती की जाती है। उनका बहुत सुन्दर शरीर था। हनुमानजीका नाम श्रीशैल था। उन्हें हनुरूह द्वीपका राज्य मिला था, सो हनुद्वीपके अधिपति होनेके कारण वे हनुमान कहलाये। इनका नाम बजरंगबली भी है, जिसका शुद्ध शब्द है बज्रांगबली। जिसका बज्रनाराचसंहननके धारी बलिष्ट पुरुष, यह अर्थ होता है। हनुमानजी विशल्या व उसके परिवार सहित गगनविमानसे आये। विशल्याको देखते ही लक्ष्मणकी मूर्छा किलकारी मारकर दूर भाग गयी। तो आप देखो-- यह तपस्याका ही प्रभाव है कि उसने अपना पूर्वजन्म अर्हद्भक्तिमें व्यतीत किया, उसका यह सारा प्रताप था। तो जहां कुछ निर्मलता होती है वहा ऐसा प्रताप उत्पन्न हो ही जाती है। तो जिस की आत्मा पूर्ण निर्दोष है उसके ऐसी प्रतिभा प्रकट हो तो क्या आश्चर्य

है ? ऐसे प्रभुकी भक्ति होना सो अर्हद्भक्ति है।

सर्वार्धमागधी भाषाका अतिशय— प्रभु जब विहार करते हैं और उपदेश करते हैं उस समय उनके दिव्य अतिशय प्रकट होता है। उनके वे निरक्षरी दिव्य वचन अनेक भाषाओंरूप परिणाम कर श्रोताओंके मनको प्रसन्न करते हैं। यहां एक तो यह सम्भव है कि वे श्रोतागण उस दिव्यध्वनिको सुनकर अपने आप ही स्वयं अपनी भाषामें उसका अर्थ समझ लेते हों और फिर जब आजकल भी किसीके व्याख्यानको अनेक भाषाओं में परिणत करनेमें समर्थ जब यन्त्रोंकी रचना चलने लगी है तो भला ऋद्धिसमृद्धिसम्पन्न वह इन्द्र इस बातको आज जैसोंसे भी बढ़कर इस प्रयोगको करनेमें समर्थ न हो सके होंगे।

परस्पर मित्रताका वातावरण— प्रभुके विहारमें और उनके आवास के अवसरमें जो भी प्राणी आते हैं वे सब आपसमें मित्रताका बरताव करने लगते हैं। यह प्रभुका दिव्य अतिशय है। ऐसे बड़े संतपुरुषोंके निकट पहुंचनेपर प्रकृत्या लोगोंके कषाय वंगल दूर ले हो जाते हैं, वैरभाव नहीं रहता है। नेवला और साप परस्पर मिल जुलकर बैठते हैं। बिल्ली और चूहा परस्पर एक दूसरेके साथ बैठे रहते हैं। परुष पुरुषसे तो वैर ही क्या रखेंगे जहां कि यह दिव्यअतिशय है कि ये पशु पक्षीगण अपने वैरभाव को समाप्त करके मित्रतापूर्वक बसते हैं। धन्य है वह हृदय, जिस हृदयमें अरहंतदेवके प्रति भक्ति उमड़ती है। धन्य है उनकी जिह्वा, जिससे पुरुष प्रभुकी पूजामें, ध्यानमें, गुणगानमें रत रहा करते हैं। निर्दोष आत्माके गुणोंका स्मरण करनेसे अधिक और क्या वैभव हो सकता है ? मोह एक विकट अन्धकार है जिस अन्धकारमें भूला हुआ न अपने आपको पहिचान सकता है और न सही रूपमें दूसरेके आत्मस्वरूपको पहिचान सकता है। तीर्थंकर, अरहन्त, सकलपरमात्मा, सगुणब्रह्म, निर्दोष, वीतराग, सर्वज्ञदेव, अकारण उपकारी, परमब्रह्म, निरपेक्ष मित्र जहां विराजे हुए हैं, जहां विहार करते हैं, जहां आवास करते हैं वहां जीवोंमें परस्पर मित्रताका बरताव होता है।

दिशाओंकी निर्मलता, आकाशकी स्वच्छता, षट्ऋतु पुष्पफल व भूमिकी निर्मलताका अतिशय— उस समय दिशायें निर्मल हो जाया करती हैं, आकाश स्वच्छ दीखता है, छहों ऋतुओंके फलफूल एक साथ फलने लगते हैं। ओह प्रभुके आवासका इतना विशेष अतिशय है कि मनुष्य तो समस्त रोगोंसे रहित हो जाते हैं कि इनमें नवीन लाल कोपल अथवा सभी फल फूल फलने फूलने लगते हैं। तब यह पृथ्वी दर्पणवत् निर्मल हो जाती है।

भला किसी बडे पुरुषके प्रबन्धमे मनुष्य लोग भी बड़े कमाल करके दिखा देते है और जहां तीर्थंकर प्रभुका तो हो रहा हो विहार और प्रबंध करने वाली हों दिव्य शक्ति, वहांके अतिशयका कौन वर्णन कर सकता है। यह सब चमत्कार है प्रभुकी निर्दोषताका। निर्दोषस्वरूप पर बलि-बलि जावो। यहां कोई नाम लेकर बात नहीं कही जा रही है। भगवान्का कोई नाम नहीं होता है, भगवान्को वैभव, शरीर सकलकी बात नहीं होती है किन्तु जो निर्दोष है, गुणपुञ्ज है यह प्रभु अरहंत अथवा सर्वज्ञदेव प्रभु हैं।

प्रभुचरण कमलतल स्वर्णकमलकी रचना— प्रभु जब विहार करते है तो उनके चरणोंके नीचे स्वर्ण कमलकी रचना हो जाती है। वे पृथ्वी पर विहार नहीं करते है, आकाशमें ही विहार करते हैं। यहां भी कोई औपधितन्त्रके विज्ञानसे आकाशमें चलकर दिखा सकते हैं और ऋद्धिधारी ऋषि तो आकाशमें विहार करते ही हैं। फिर जो समस्त ऋद्धियोंके पुञ्ज हैं, उत्कृष्ट अतिशयके स्थान हैं जिनसे बढ़कर अन्य कुछ क्या कहा जा सकता है ? वे विहार कर रहे हो और उनके पगोंके तले इन्द्र स्वर्णकमल की रचना करते जाते हों तो इसमे कौनसा आश्चर्य है ? यहां भी जो कोई बड़ा पुरुष चलता है तो उसके आगे कपड़ा बिछा देते हैं, रेशम मखमलकी पाट बिछा देते हैं फर्लांगो और मीलों तक। फिर बनावो तीर्थंकर जैसे सर्वरक्षक परमपिता परमशरण जो उनकी देशना न होती तो आज यह वस्तुका स्वरूप हम आप कहांसे प्राप्त करते ? उनका तो हो रहा हो विहार और वहां दासपना कर रहा हो इन्द्र तो उस व्यवस्थाको कौन कह सकता है ?

जय-जय ध्वनि व मन्दसुगंध पवन— आकाशमे चारों ओरसे उनके जय-जय शब्दोंकी ध्वनि चलती है। ओह कोई लोग नहीं दीखते हैं और जय-जयके शब्द सुनाई दे रहे हैं। ऐसा भी होता है, लोग भी बहुत दीख रहे हैं, जय-जय ध्वनि सुनाई देती है ऐसा भी होता है। वहां मंद सुगंधित पवन चलता है। एक ही इन्द्र या देव उस व्यवस्थामें नहीं है किन्तु प्रत्येक देवकी यह उत्सुकता रहती हैं कि मैं प्रभुकी सेवामे कुछ भी तो काम आऊँ। यह जीवन किस दिनके लिए है, ये ऋद्धि वैभव किस क्षणके लिए है ? जिन देवोंका जीवन बेकारसा रहता है, विषयोंमें जिनकी वासना बनी रहती है, वे अवसरको पाकर अपना सारा बल प्रभुसेवामे लगाकर अपनेको कृतार्थ समझा करते हैं। ओह इस पापवासनामें तो कभी शांति नहीं प्राप्त होती है, ये सब बेकार है। वे देव अपना सारा वैभव प्रभुकी सेवामें अर्पित कर देते हैं।

गन्धोदक वृष्टि व भूमिकी निष्कण्टकता— वहा सुगंधित मंद-मंद जलकी वृष्टि भी होती रहती है। जैसे सभा सोसाइटियोंमे लोग गुलाबका जल छिड़कते हैं तो सुहावना लगता है। लोग उसमें अपना आदर समझते हैं। ऐसे ही सुगंधित जलकी वृष्टि वहां बहुत विस्तृत क्षेत्रमें होती रहती है। विहार करते हैं सो वे आकाशमें चलते हैं पर भूमिगोचरी पुरुष पशुजन और जो भी बच्चे लोग चले, जो उनके दर्शन करनेके तीव्र अभिलाषी हैं वे पृथ्वीपर ही तो चलते हैं। किस ओर मुड़ जाये वे प्रभु? आकाशमे क्या रास्ता बनी है? जहा प्रभु जायें उस ओर ही तो मनुष्य जायेंगे। क्या पहिलेकी बनी हुई सड़कका ही सहारा लेकर वे अपना मनोरथ सफल कर सकेंगे? जहां जायेंगे वहा ही लोग भागेंगे। जहां पक्की सड़क नहीं वहां होकर जाना पड़े तो क्या कांटे न लगेंगे? अहो ऐसा दिव्य अतिशय है, ऐसा देवोंका पुरुषार्थ है कि भूमिमे कंटक नहीं रहते हैं।

विश्वका हर्ष, धर्मचक्रका पुरोगमन व मंगलद्रव्योंका नैकट्य— उस समय सब जीवोंमे हर्षमयी सृष्टि हो जाती है। ओह कुछ भी पवित्र थोडा भी निर्दोष, थोड़ा भी यथार्थ ज्ञानी पुरुष अपने बीच कहीं मिल जाय तो वहा भी हर्षका ठिकाना नही रहता। फिर कहीं प्रभु ही मिल जायें तो उस हर्षको कौन बता सकता है? जैसे यहा रथकी सवारी जब निकलती है तो कितने गान तान समारोह किये जाते हैं। लगातार पताकाएँ अथवा नाना बाजे और-और भी आकर्षक झांकियां और सबसे आगे धर्मचक्र यहा रखते है। यों ही इससे भी कई गुणा बढचढकर समारोह प्रभुके तीर्थंकरके विहारमे होता है। वहां ऐसा दिव्य धर्मचक्र चलता है कि वह मानो सर्वत्र धर्मका वातावरण फैलता हुआ जा रहा है। उनके निकट छत्र, चामरादिक अष्ट मंगलद्रव्य राजते हैं। ऐसे अनेक दिव्य अतिशयोंकरि सम्पन्न प्रभु किस बल पर इतने बड़े बने हैं? वह बल है यथार्थ ज्ञान और निज सहज ज्ञानस्वरूपमे ही रमण। इसके प्रसादसे उनमें पूर्ण शुद्धता प्रकट हुई और विश्वज्ञता स्पष्ट हो गयी है। ऐसे अरहंतदेव सकल परमात्मा हैं। क्या करें, नाम तो कुछ लेना पड़ता है। नाम कुछ भी न लेना पडे और वह गुणपुञ्ज स्वरूपदृष्टिमें आये और भक्ति जगे यह तो सर्वोत्तम बात है किन्तु नाम तो कुछ धरा ही जायेगा। लोकका व्यवहार नाम बिना तो नहीं चलता। वह तो सर्वमजहबोंसे परे है, सर्वजातियोंसे परे है, संसारके सब झंझटोंसे परे है, शुद्ध निर्दोष ज्ञानपुञ्ज है। ऐसे अरहंतदेवकी अर्थात् निर्दोष आत्माकी भक्ति होना, सो अर्हद्भक्ति है।

निष्कपट अर्हद्भक्तिका प्रभाव— अर्हद्भक्तिके प्रतापसे जो शुद्ध परिणाम जगता है उस समय उस भक्त महापुरुषके ऐसी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है जो तीर्थंकर देवके समान ही वैभव और समृद्धिका अधिकारी हो जाता है। प्रभुकी भक्ति किसी वाञ्छासे मत करो। वाञ्छासे प्रभु भक्ति करने पर कुछ लाभ न मिलेगा। निष्कपट निरीह होकर अरहंतदेव की भक्ति करो, उनके ही उस गुणविकासमें केवल ज्ञानज्योतिके उस शुद्ध सच्चिदानन्द प्रकाशमें अपने उपयोगको बसावो। यहां तक अर्हद्भक्ति नामकी भावना कही गयी है।

११—आचार्य भक्ति

आचार्यभक्तिभावना— अब ११वीं भावना है आचार्यभक्ति। सिद्ध प्रभुको भक्ति करना वह तो उत्तम है ही, मगर वे मिलते कहां हैं, स्मरणकी ही बात है। उनसे हम व्यवहार कहा कर सकते हैं? अरहंतदेव भी कदाचित् मिल सकते हैं मनुष्योंको किन्तु वहा पहुंच तो नहीं है। उनसे कुछ बातचीत तो नहीं हो पाती। रोजकी बात, रोजके काम ये तो उनके प्रसंगमें नहीं हो सकते हैं। तब फिर अरहंतदेवके ही लघुनन्दन छोटे भाई आचार्यदेव जो मुनीश्वरोंके अधिपति हैं, सबके हितकी इच्छा रखते हैं, अपने स्वरूपकी सावधानी रक्खा करते हैं ऐसे आचार्यदेवकी भक्ति करना सुगम व सुफल है। ऐसे आचार्योंकी भक्ति होना सो आचार्यभक्ति है।

परोक्षभूत आचार्योंका भी अवलोकन— भैया! न मिलें कदाचित् ऐसे आचार्य आजकल तो उन आचार्यदेवकी जो अंतरंगकी स्पष्ट फोटो है वह हैं यही वचन। शरीरकी फोटो तो कैमरासे ली जाती है, पर मनुष्यों की, महापुरुषोंकी भीतरकी फोटो आप किस कैमरेसे लेंगे? उनका भीतरी विकास कैसा है, उनका ज्ञान और वैराग्य कैसा है, वह फोटो जैसे ही ग्रन्थ तो हैं। इन वचनोंकी उपासना द्वारा परोक्षरूपमें ही उन आचार्योंकी ऐसी भक्ति करलो गद्गद होकर, सर्व आरम्भ परिग्रह पाप विषय कषायोंको भूलकर, आनन्दके अश्रु बहाकर और अपनी वर्तमान पर्यायपर शोकके अश्रु बहाकर ऐसे गंगा यमुना जैसा संगमरूप अश्रु धारावोंसे उन आचार्य देवके चरणोंको परोक्षरूपमें पखार लें। वर्तमानमें नहीं हैं तो न सही, सोच लो ये हैं आचार्यदेव। कुन्दकुन्दाचार्य समन्तभद्राचार्य, विद्यानन्दी आदि अनेक आचार्य हुए हैं, जिनकी हम क्या-क्या कहानी बताएँ? जिन का आदर्श चरित्र था।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य— कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु १०, ११ वर्षकी उम्रमें निर्ग्रन्थ हो गये थे। इनकी मां जब कुन्दकुन्द बच्चे को पालनामें झुला

रही थी उस समय जैसे कि प्रायः होता है मां गीत गाती हुई बच्चेको झुलाया करती हैं। जिसे कहते हैं लोरियां लेना। वैसे ही कुन्दकुन्दाचार्य की मां पालना झुलाते हुएमें लोरियां गाती थी, जिसे कविने संस्कृत छंदों में बाधा है। "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रा, श्री कुन्दकुन्दं जननीदमूचे।" हे कुन्दकुन्द! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है। संसारकी मायासे परे है, संसारके स्वप्नोंको, मोहकी निद्राको त्यागो। इस प्रकार जिसके प्रति मां पालना झुलाते हुएमें बोल रही हो समझो उसकी संतान कैसी होगी? वे कुन्दकुन्द प्रभु थोड़े ही समय बाद उस समयके दुनियाके सर्वसाधुवोंके प्रमुख नायक हो गये। उनके जब अध्यात्मग्रन्थोंको पढ़ते हैं तब पहिचान होती है उन आचार्यदेवोंकी। उनकी बाह्य पहिचानसे भक्ति नहीं उमड़ती है, किन्तु भीतरका परिचय हो तब भक्ति उमड़ती है।

ब्रह्मवेतृत्व— एक जरासी कहानी और सुनिये विद्यानन्दी आचार्य की। प्रायः जितने भी आचार्य हुए हैं वे ब्राह्मण थे। मोक्ष तो सभीको होता है ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य किन्तु प्रधानता तो देखो। जो ब्रह्मको जाने वही ब्राह्मण है। जिस समय भरतचक्रवर्ती ने प्रजाजनोंको आमन्त्रित कर अपने घर बुलाया था और आंगनमें धान बुवा दिये थे,। अंकुर खड़े थे। तो बहुतसे लोग तो सीधा चक्कर लगाकर न जाना पड़े सो उन अंकुरोंसे कूदते हुए आये, किन्तु कुछ जन जो विवेकी थे वे अंकुरोंको छोड़कर साफ गलीसे घूमकर आये, तब चक्रीने उनको ब्राह्मण सञ्ज्ञा दी। कहा कि तुम जानते हो ब्रह्मस्वरूपको। जीवरक्षाका तुम्हारा भाव है। फिर वह परम्परा धीरे-धीरे कैसी होती रही कि सभी पुरुषोंकी भांति रागद्वेष आजीविका, खेती बाड़ी और वही कुटुम्बपालनकी चितासे व्याप्त हो गए। ये आचार्य देव प्रायः सब ब्राह्मण थे और तीर्थंकरों को तो सुना ही होगा कि वे सब क्षत्रिय वंशके थे।

विद्यानन्दी आचार्यकी प्रतिभा— विद्यानंदी महापंडित विप्र, राजा के प्रमुख पुरोहित थे। उस समय विद्यानन्दी पंडितराज जैनधर्मसे इतना द्वेष रखते थे कि कहीं जैनमदिर आ जाय तो मुख मोड़कर चलते थे। वे एक राजदरबारके पुरोहित थे। जब वे राजदरबारको जाते थे तो रास्ते में एक पार्श्वनाथ जैन मदिर पड़ता था, वह मुख मोड़कर चल देते थे। अचानक ही एक दिन चित्तमे ऐसा आया कि मैं जिस मदिरसे मुख मोड़ कर चलता हू आखिर ऐसी घृणाकी चीज है क्या, वहा देखें तो सही। दूसरे दिन वह मदिरमें गए। उस समय मंदिरमें एक मुनि विराजमान थे

और वह देवागमस्तोत्रका पाठ कर रहे थे। आचार्यकी कृतियों पर वही न्यौछावर हो सकता है जो उनके गुणोंसे परिचित है। वह मुनि देवागम-स्तोत्रका पाठ पढ़ रहा था। क्या है देवागमस्तोत्रमे ? किसीके सैकड़ों जिह्वाएँ हों तो भी उसका रहस्य कह नहीं सकता। कुछ थोड़ी बातें किसी समय कहेंगे। संस्कृतमे था वह स्तोत्र जिसमें भगवान्‌की स्तुतिकी जा रही थी, पर स्तुति करते हुएमे समस्त वस्तुसिद्धान्त वर्णित कर दिया गया था। विद्यानन्दी संस्कृतके बडे ज्ञाता थे, उन्होंने बड़े ध्यानसे उस स्तोत्रको सुना। सुनते ही उनका बहुतसा भ्रम खत्म हो गया।

विद्यानन्दीस्वामीको तत्त्वका सम्यक् दर्शन— फिर विद्यानन्दी विप्र बोले, महाराज इस स्तोत्रका अर्थ तो बताओ। तो वह मुनि बोला कि हम इसका अर्थ नहीं जानते हैं, हम तो श्रद्धासे भक्तिपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ किया करते हैं। इतनी नम्रताकी बात सुनते ही विद्यानन्दी तो भक्तिसे ओतप्रोत हो गए। कहा महाराज इस देवागम स्तोत्रको एक बार फिरसे सुना दीजिए। उन्होंने फिरसे सुना दिया। सर्व अर्थ हृदयमें आ गया। सारी शंकाएँ समाप्त हो गयीं। जैनदर्शनकी युक्तियोंसे इस सिद्धान्तपर उनका दृढ़ विश्वास हो गया। अब तो जीवन ही बदल गया। घर आये। अब तो उनका कुछ और ही ढंग था। अब जब रात्रि हो गयी तो उन्हें निद्रा ही न आये, गुणानुरागसे और अपनी पिछली करतूतके प्रायश्चित्त-स्वरूप अनुतापसे वे भक्तिमें मग्न हो रहे थे। ओह सर्व कुछ वस्तुस्वरूप उनकी उपयोगदृष्टिमे सामने था। केवल एक साधारणसी बातकी थोड़ी शंका रह गयी थी उसका वे चिंतन करने लगे।

आचार्यदेवका आचार, व्यवहार, आयापायदर्शित्व व अवपीडन गुण— आचार्य परमेष्ठी भव्य जीवोंके कितने परम हितचिंतक हैं इस बातको आचार्यके जो ८ महागुण हैं उनके स्वरूपसे जान सकते हैं। आचार्य परमेष्ठी आचारवान् होते है अर्थात् वे पंच आचारोंका स्वय भी दृढतासे पालन करते हैं और शिष्य जनोंको पालन कराते हैं। वे ज्ञानके पुञ्ज होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी भी जिनका प्रसाद चाहें उन आचार्य पर-मेष्ठीका सुलझा हुआ ज्ञान वचनोंके अगोचर है। उनकी ऐसी प्रतिभा होती है कि वे किसी जनको देखकर सगुनको निरखकर अथवा किसी निमित्तको देखकर यह जान जाते हैं कि इस क्षेत्रमें शिष्यजनोंको लाभ है अथवा उनका विनाश है, ऐसे आय और अपायके दर्शी होते हैं। कोई शिष्य आचार्यसे आलोचना करते हुए अपने दोष निवेदन करता हो और कोई ऐब शिष्य छिपा जाय तो आचार्य परमेष्ठीका इतना प्रताप होता है कि वे

शिष्य दोषोंको छिपा नहीं सकते और खुद ही अपने मुँहसे अपने दोष बताने जाते हैं। यह प्रेमकी बात है शासनकी बात नहीं है। आचार्य परमेष्ठीके उन साधुओंके प्रति इतना अद्भुत मोक्षमार्गका प्रेम है कि वे साधुजन दोषोंको छिपा नहीं सकते और वे आचार्य दोषोंको निकाल डालते हैं। ऐसा इनमें अवपीडन गुण है। जैसे कोई बच्चा किसी वस्तुको मुखमें डाले हो और वह गलेमें अड़ जाय तो माता उसके मुखसे गलेमें हाथ डाल कर उस वस्तुको निकाल लेती है। यह माताका अद्भुत प्रेम है। यों ही शिष्योंकी आत्मामें कोई दोष छुपानेकी दृष्टि जगी हो तो आचार्यदेव उस दोषको ठहरने नहीं देते। समझ लीजिए कि कितने परम प्रेम और परम करुणाका भाव है?

आचार्यदेवका अपरिस्राविस्व गुण— आचार्यका आत्मा बहुत गम्भीर है। आचार्यदेवसे शिष्यजन अपनी-अपनी न जानें क्या क्या बातें कह जाते हैं? यह मनुष्य दोषोंसे घिरा बना हुआ है। वैसे दोष हो जाते हैं जिनको मुखसे कहनेमें लाज आये, ऐसे भी दोष साधुजन अपने कल्याणकी भावनासे आचार्यदेव से आवेदित करते हैं और आचार्य परमेष्ठी उन दोषोंको हृदयमें यों पी जाते हैं अथवा सुखा डालते हैं कि किसी भी तीसरे मनुष्यको पता नहीं हो सकता कि इस शिष्यने क्या अपराध किया? यह महागुण है। जैसे ताते तवेपर पानीकी बूँद गिर दी जाय तो वह बूँद क्या कुछ दिखती भी है? उसका कुछ पता भी रहता है? यों ही आचार्यके उपयोगमें शिष्योंके अपराध यों गुप्त रहते हैं कि वे किसी भी मनुष्यका शिष्यका अपराध नहीं बखानते हैं। देखा होगा बच्चोंकी थोड़ी-थोड़ी लड़ाईमें बच्चे कह बैठते हैं कि देखो हम तुम्हारी बात कह देंगे। बात कुछ न हो पर उनकी ऐसी आदत है। मनुष्य भी संसारी लोग जरासी लड़ाईमें इतने असहनशील हो जाते हैं कि दूसरेके रहस्यको, दूसरेकी गुप्त मंत्रणाको प्रकट कर डालते हैं, पर आचार्य परमेष्ठीका हृदय इतना उदार होता है कि कोई शिष्य चाहे शिष्य न भी रहे, चाहे वह विधर्मी हो जाय, चाहे उसकी कुछ भी परिस्थिति बने फिर भी शिष्यके द्वारा की गई आलोचनाको आचार्य जाहिर नहीं करते हैं। उनका एक ही निर्णय है।

निर्यापन— ये आचार्यदेव अपने शिष्योंका निर्यापन करते हैं। जैसे उनका संसारसे तिरना हो उस उपायको किया करते हैं। आचार्य परमेष्ठीमें वैयावृत्य करनेका गुण ऐसा प्रबल होता है कि कोई भी शिष्य रोगी हो, दुःखी हो, म्लान हो, कमजोर हो तो उसकी सेवामें हिचकते नहीं हैं। ऐसा छोटे पुरुष ही सोचते हैं कि मैं बड़ा हूँ, मैं इसे कैसे छुऊँ?

एक घटना बतायी थी एक श्रावकने। बहुत पहिले समयकी बात है, सम्भवतः भिण्डकी बात है। जब स्वरूपसागरजी एक क्षुल्लक थे, वे बीमार हुए तो उनके साथ दो ब्रह्मचारी रहते थे। उन क्षुल्लकजीको कै हुई, तो वे दोनों ब्रह्मचारी दूर खडे-खड़े देख रहे थे। किसीकी यह हिम्मत न हुई कि निकट जाये और उनकी पीठ पर अपना हाथ फेरें, उनके सिरको थाम ले। तो एक श्रावक पहुंचा और उसने कहा— ब्रह्मचारी जी तुम तो इनके साथ रहते हो। इनको कितनी वेदना हुई पर तुमने इनके सिरपर अपना हाथ भी नहीं फेरा? तो उन्होंने उत्तर दिया कि अब शामके सामायिकका समय होने वाला है, यदि हम छू लेंगे तो फिर नहाना पडेगा। श्रावकने कै धोई, उनकी सेवा शुश्रूषा की, सब कुछ किया। अब आप जान जाइए कि धर्मका पालन किसने किया?

आचार्य परमेष्ठीकी विशालता— धर्मात्मापुरुषोंकी सेवाके सामने और धर्मात्मापुरुषोंकी वैयावृत्यके सामने आपके पूजन, सामायिक, ध्यान ये सब कुछ उसीमे गर्भित हो जाते हैं। सेवामें महागुण हैं। यह गुण इन आचार्य परमेष्ठीमें होता है। ऐसे उपकारी आचार्य परमेष्ठीका कहा तक गुणगान करें? बहुत दिनोसे यह षोडशकारण भावना चल रही है। इस भावनाके बारेमे आप ऐसा सोच रहे होंगे कि दिन अधिक हो गये हैं। अब अधिक विस्तार करना युक्त नहीं है। इतना ही जानो कि हम आपके शरण रक्षक परमपिता जिसे मा बाप कहते हैं, कोई पुरुष अपना रक्षक कहते हैं, ये आचार्य परमेष्ठी हैं। इन साधुजनोंके मोक्षमार्गके पथिकोंके पथ-प्रदर्शक साक्षात् ये आचार्य परमेष्ठी हैं। इनकी विशालताका, इनकी गम्भीरताका कौन बखान कर सकता है? यह आचार्य परमेष्ठीका वर्णन है। अपनी नामवरीके लिए योग्यता न होकर भी दो, चार, दस श्रावकोंको कहनेके लिए तैयार कराकर अपनेको आचार्य कहलवाना, अपनेको आचार्य प्रसिद्ध कर देना उसका यह प्रकरण नही है किन्तु जिनमे ऐसे महागुण हैं कि जिनके कारण लोगोंका वास्तविक परमोपकार होता है, उन आचार्य परमेष्ठीका यह प्रकरण है। उनकी महिमाका हम कहां तक वर्णन करें?

विद्यानन्दी स्वामीका एक चिन्तन— वे विद्यानन्दी स्वामी जब जैन सिद्धान्तके तीव्र रुचिया बनकर खुशीके मारे उनको नींद नहीं आ रही थी। हर्षमे नींद न आना भी बड़ा शुभ अवसर है। तो उनके थोड़ी निद्रा आयी, वह भी एक शुभचिंताके गुजरे क्षणोंमे आयी। वे चिंतन कर रहे थे कि और तो सब जाना, पर न्यायदर्शनमे अनुमानखण्डका बड़ा वर्णन है, उस

समय थोड़ा यह सोच रहे थे कि अनुमानके अंग कितने हैं अर्थात् कितनी युक्तियोंसे, पद्धतियों से अवयवोंसे अनुमानका रूपक बनता है। थोड़ा यों समझ लो कि बालकोंको समझाने के लिए ५ अंगोंमें अनुमानका रूपक किया जाता है। जैसे किसीको यह बताना हो कि इस पर्वतमें आग है क्योंकि धुवां उठ रहा है। आग तो न दिख रही हो और धुवा उठता चला जा रहा हो तो वहां यह बोला जायेगा कि इस पर्वतमें आग है, धुवां होनेसे। जहां जहां धुवां होता है वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोईघर। जहां आग नहीं होती है वहां धुवा भी नहीं होता है, जैसे तालाब। और यहां पर धुवां है इसलिए अग्नि होना ही चाहिए। यह है अनुमानका पूरा रूपक। इसमें ५ अंग आ जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस सम्बन्धमें कई दर्शनशास्त्र कहते हैं कि नहीं, तीनों अंगोंसे काम चल सकता है। प्रतिज्ञा, हेतु दो ही अंगोंसे काम चल सकता है। निद्रा आ गयी। निद्रामें स्वप्नमें ही देखा कि अरे विद्यानन्दी, तुम क्या आशंका कर रहे हो, सुबह उसी मन्दिरमें जावो, उस प्रतिमाके पीछे इसका उत्तर लिखा हुआ मिल जायेगा।

अतिशय और समाधान— विद्यानन्दीस्वामी गये सुबह मंदिरमें तो वहां दो श्लोक लिखे हुए मिल गए। क्या अतिशय था ? निर्मल आत्माका क्या प्रभाव बताया जाय ? दुनियामें सबसे अधिक अद्भुत जो भी बात आप सोच सकते हैं उससे भी अधिक बल इस आत्मवैभवमें है। आजके जमानेमें भी तो सबसे बड़ा बल एटम बमका बताया गया है। जरा एटममें ए का आ का उच्चारण लेकर बोलो तो एटम बोलो या आतम बोलो तो उसमें कुछ फर्क है क्या ? एटमसे भी बड़ा बल है आतममें। कैसे इसकी सूझ है। अथवा इसे छोड़ो—ऋद्धि, समृद्धियोंके अतिशय जब आप देखेंगे तो वह इस सब विज्ञानसे उत्कृष्ट प्रयोग है। मिले वे दो श्लोक, क्या लिखा था उनमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं। अन्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥' अनुमानका अंग तो अनुमानका साधक तो केवल एक ही है, अन्यथा 'नुपपन्नत्व' जिसके बिना जो न हो सके वह हो तो उसकी सिद्धि हो जाती है। बस इतना ही उसमें सारभूत तत्त्व है, जहां यह नियम है वहां उन तीनोंसे या पांचोंसे क्या प्रयोजन है ? अन्यथा-नुपपन्नत्व न हो तो वे तीन या पाचों ही इसमें क्या कर देंगे। बड़ा समाधान हुआ है।

विद्यानन्दीस्वामीकी निर्भीकता और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति— अब

रोजकी भांति वह विद्वान् राजदरबारमे पहुचा। उनका जब भाषण हुआ तो उसे सुनकर सब पंडित लोग दंग रह गये। यह क्या बोल रहे है ? बात भली भी लग रही थी और अपने पहिलेके माने हुए मंतव्यके विपरीत भी लग रही थी। कोई ज़रा टेढी मेढ़ी दृष्टिसे पडित जी को निहारने लगा तो विद्यानन्दी जी बोले कि अब मेरा सब भ्रम दूर हो गया है, मुझे इस जगत से अब कोई प्रयोजन नहीं रहा। मैने अपने आत्माका मर्म पहिचाना है और जो मै कह रहा हू वह यथार्थ कह रहा हूं, सत्य कह रहा हू। स्याद्वादके बिना वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। जिसे संदेह हो वह मुझसे बात करे। मै समझा दूगा। यों कहकर सभासे उठकर सीधे मुनि वनको जाकर दीक्षा ग्रहण की। उन आचार्य स्वामीने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनकी शैली ही एक निराली है। यो जो जैनधर्मसे द्वेष रखता हो और हो प्रकाण्ड विद्वान्, अनेक भाषावोका अनेक दर्शनोका बड़ा विद्वान हो, और जैनदर्शनके विरोधमे बहुत कुछ सोच रखा हो, वह अब दर्शनके सम्बन्धमें किस शैलीसे लिख सकेगा ? उनकी यह आभा तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, अष्टसहस्री आदि आदि बडे ऊँचे धार्मिक ग्रन्थोंमे मिलती है।

आचार्यभक्तिका निर्देश— ऐसे आचार्य परमेष्ठी जो हमारे परोक्षभूत हैं किन्तु जिनका स्मारक जिनकी अंतरंगमुद्राका दर्शन अब भी ग्रन्थों के रूपमे हो रहा है, उन आचार्य परमेष्ठीकी भक्ति करो। उनकी असली भक्ति यही है कि वे जो देन दे गये हैं शास्त्र, उनका ज्ञान बढावो। वे तो जीवन भर तपस्या करके हम आपको बना बनाया अमृतमयी भोजन दे गयें हैं और यहां हम ऐसे कुपूत बने कि बने बनाये भोजनको भी नहीं लेना चाहें, तो इससे अधिक विषादकी और क्या बात हो सकती है ? ये सब आचार्य परमेष्ठी हमारे वंदनीय हैं।

१२—बहुश्रुतभक्ति

बहुश्रुतभक्तिभावना—अब तीर्थकर प्रकृतिकी बधक भावनाओंमें १२ वीं भावना बहुश्रुतभक्ति वर्णित की जाती है। जिनको श्रुतका शास्त्र का बहुत ज्ञान है ऐसे बहुश्रुतधारी साधुवोंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है। दो नेत्र तो सबके होते हैं पर तीसरा नेत्र कोई महादेव हो उसके ही हो सकता है। तीसरा नेत्र साधारण जनोंके नहीं बनता किन्तु महादेव के ही सम्भव है। वह महादेव जो अनन्तचतुष्टय करि सम्पन्न है, चार घातिया कर्मोसे रहित है उनके ऐसा अन्तरमे तीसरा नेत्र प्रकट होता है केवलज्ञान। जिस नेत्रके द्वारा वे समस्त लोक अलोकको एक साथ स्पष्ट

जानते हैं और साधुवोंको तो आगमचक्षुः बताया है। मोहीजन तो चर्म-चक्षुवोंसे अपनी समस्त गतियोंका निर्णय करते हैं किन्तु साधुजन आगम चक्षुसे अपनी समस्त गतियोंका निर्णय करते हैं। जिनका श्रुत ही दिव्य नेत्र है ऐसे बहुश्रुत साधुवों की गुरुवोंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है।

श्रुतकी अगाधता— शास्त्रोंमें पढ़ा होगा ११ अंग १४ पूर्व और अनेक चूलिकाएँ यह समस्त द्वादशांगका विस्तार है, जिसका विवरण सहित वर्णन करनेमें कुछ ही पुरुषोंको तो रुचि जग सकती है पर प्रायः बहुतोंको रुचि नहीं जग सकती है। किन्तु उसके इतना संक्षिप्त समझलें कि छद्मस्थ अवस्थामें भी जितना महान श्रुतज्ञान हो सकता है, उतना श्रुतज्ञान आज नहीं है। उस श्रुतज्ञानका करोड़वां हिस्सा भी ज्ञान आज नहीं है। फिर भी जो बचे हुए शेष आज आपको शास्त्र मिलते हैं, बड़े कठिन संकटोंके समय जहां आपके शास्त्रोंको जलाकर उसमें पानी गरम करके बड़ी सेनावोंने स्नान किया। जहां केवल एक ही प्रोग्राम था, जहां मिले इनके शास्त्र, ग्रन्थ उन सबको जलावो, पानी गरम करो और खूब नहावो। ऐसे बड़े संकटोंके समयसे भी बचा खुचा जो आज आपके समक्ष साहित्य है वह भी आज इतना है कि जिसकी कहीं तुलना नहीं की जा सकती है। अब समझ लीजिए जो समस्त द्वादशांग का वेत्ता हो अथवा कुछ कम भी, ऐसे जो बहुश्रुत विद्वान् हैं उनकी भक्तिको श्रावकजन कैसा तरसा करते होंगे, कैसी-कैसी उत्सुकता रहा करती होगी?

परमार्थतः भक्त द्वारा स्वयके गुणकी भक्ति— कोई भी पुरुष किसी पुरुषसे अनुराग नहीं करता है, भक्ति नहीं करता है। जो भक्ति भी करता है वह गुणोंकी भक्ति करता है, और उसमें भी दूसरेके गुणोंकी भक्ति नहीं करता है किन्तु भक्तको स्वयं अपने आपके गुण रुचते हैं और उन गुणोंके माफिक दूसरेमें कोई गुण दिखाई देते हैं तो वह दूसरेके गुणोंका अवलोकन करके अपने ही गुणोंका प्रसाद बढ़ा करके परमार्थतः भक्ति अपने गुणोंकी ही वह भक्ति करता है। यों बहुश्रुत भक्ति नामकी यह भावना है।

बहुश्रुतके साधन स्वामित्व आदिका विवरण— जो ज्ञानीपुरुष श्रुतके धारी हैं, जो स्वय पढ़ते हैं और अपनी शक्ति माफिक अन्य शिष्योंको पढ़ाते हैं ऐसे बहुश्रुतोंकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है। श्रुत ११ अंग १४ पूर्व तथा अन्य भी कुछ और है, इतना महान् श्रुत कोई चाहे कि शिक्षा लेकर विद्याध्ययन करके, पाठ याद करके इतने समस्त

श्रुतोंका ज्ञान कर लेवें यह संभव नहीं हो सकता है। उस समस्त श्रुतका ज्ञान आन्तरिक तपस्याके प्रभावसे होता है। अध्ययन करके इतने श्रुतका ज्ञान नहीं किया जा सकता है। कोई श्रुतधारी हो तो वह तो उत्कृष्ट बहुश्रुत है ही, किन्तु जो वर्तमानमें उपलब्ध बहुश्रुत हैं उनकी भक्तिका परिणाम होना भी बहुश्रुत भक्ति है। इसके अतिरिक्त ऐसे और भी कार्य करना भी बहुश्रुत भक्ति कहलाता है। क्या-क्या? धन खर्च करके शास्त्रों का लिखवाना अथवा स्वय अपने हाथसे शास्त्रोंका लिखना, रिसर्च करना, हीन अधिक अक्षरोंका सशोधन करना, शास्त्रोंको पढना, जो विशेष जानते हैं उनसे शास्त्रोंका पढ़वाना, व्याख्यान करवाना, पढाने वाले जो लोग हैं उनकी आजीविका आदिकी स्थिरता करके इस ज्ञानधाराके प्रवाहमे सहयोग देना, लाइब्रेरिया खुलवाना ऐसा अनुकूल स्थान बनवाना जहां इकट्ठा होकर अथवा स्वय बैठकर स्वाध्याय ज्ञानसाधना कर सकें—ये सब बहुश्रुतसाधन कहलाते हैं।

श्रुतानुरागमे स्वसमर्पण— बहुश्रुतोंका अथवा शास्त्रोंका पूजन, वंदन करना सो बहुश्रुत भक्ति है। श्रुतभक्तिके समय यह हिसाब नही लगाया जाता है कि इससे हमें कितने मापका लाभ हुआ है, इसमें कितना द्रव्य खर्च करें, कितना लगायें, कितना समर्पित करें यह हिसाब नहीं लगाया जाता है। भक्तिमें स्वर्णरत्नोंका समर्पित करना अथवा आभूषण वस्त्रादिक समर्पित करना यह सब बहुश्रुतभक्तिमे सम्मिलित है। जैसे धार्मिक विद्यालयोमे कितना भी खर्च हो जाय, यदि दो एक भी योग्य सत निकल आये तो सब पाया। कोई विद्यालय चल रहा था २५, ३० छात्र थे। किसीने कहा कि छात्र तो २५, ३० ही हैं और खर्चा इतना है। कितने ही छात्र हों, जितनी कक्षाये हों उसीके हिसाबसे अध्यापक होने चाहिए। तो भाई खर्चा बढ़ता है इसपर गुरुजीका यही समाधान था कि खर्च बढने दो, उसमे यह हिसाब न लगाना चाहिए कि इतना अधिक खर्च हो रहा है और विद्यार्थी २५, ३० ही पढ रहे हैं। जो विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं वे दर्शनशास्त्र, जैनशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र इनका अध्ययन करेंगे। उनमें से किसी बिरले छात्रसे अपूर्व धर्मकी प्रभावना हो सकती है। ऐसे ही शास्त्रोंके प्रचारमे अथवा साहित्य लिखनेमें, प्रसारणमे यह हिसाब न कूता जाय कि इतना व्यय किया और कुछ लाभ तो यहां दीखा ही नहीं, इसका लाभ अप्रकट होता है और महाफलित होता है।

श्रुतानुरागका आधुनिक एक उदाहरण— सुना होगा श्रीमद् राजचन्द्रजीने समयसार भेंट करने वालेको अपने खोबामें रत्न जवाहरात भर

कर उसे भेंट कर दिया था। क्या उस समय यह बुद्धि की गयी थी कि यह समयसार ज्यादा होगा तो ५० रु० का होगा, १०० रु० का होगा। वहां यह बात नहीं कूती जाती है। जहां स्तूप अथवा मूर्ति पर इतना आत्मसमर्पण हो, वहां गुणोंका अनुराग विशिष्ट समझना चाहिए। यह बहुश्रुतभक्ति तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाली है।

१३—प्रवचनभक्ति

प्रवचनभक्ति—अब बहुश्रुतभक्तिके बाद १३वीं भावना आ रही है प्रवचनभक्ति। प्रवचन नाम है सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आप्तकी परम्परासे चले आये हुए आगमका। जैसा आगममें वस्तुका स्वरूप यथार्थ वर्णित है, जिसको सुनकर, जिसका चिंतन करके यह जीव सर्वसंकटोंसे मुक्त होनेका उपाय पा सकता है, ऐसे प्रवचन परमागमकी भक्ति होना सो प्रवचनभक्ति है। एक हिन्दी स्तुतिमें लिखा है—श्रीजिनकी धुनि दीपशिखासम जो नहिं होत प्रकाशनहारी। तो किस भांति पदारथ पांति कहां लहते रहते अविचारी॥ यदि वीर भगवानसे विनर्गत यह देशनाकी परम्परा न चली होती, आज ये शास्त्र न होते तो हम आप लोग कहां सन्मार्ग पाते? उत्कृष्ट सन्मार्ग वही है जहां किसी भी प्रकारका भय नहीं है। जहां अपने आपको विचारा कि यह मैं आकिञ्चन हूं, सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, मेरा मैं ही हूं, मेरे प्रदेशसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसे जहां दृष्टि होती है वहां संकटोंका क्या काम है?

वास्तविक संकट—भैया! संकट तो लोकमें इस ही को कहते हैं। कोई बीमार हो गया, घरका अथवा धनका टोटा पड़ गया या किसी सभा सोसाइटीमें लोगोंने मुझे गालियां दे दीं, कुछ छोटी बात कह दी आदिक किसी किस्मकी कल्पना जगना, बस यही तो संकट है दुनियामें। कोई बीमार हैं, कोई निर्धन हैं। अनेकोंपर संकट हैं, अनेकों आकुलता मचाने वाले हैं। ये सब बातें तो अन्य हैं इनमें अन्तःसंकट नहीं होते हैं, किन्तु जहां मोहभाव है, जहां अज्ञान अंधेरा छाया है, वहां आंतरिक संकट होते हैं। संकट है कहां अन्यत्र? यह है तो निःसंकट ज्ञानानन्दस्वरूप और इस बातसे चिगे, बाहर देखा तो आकुलता होने लगती है ना, इसलिए सर्वत्र संकट ही संकट हैं। ऐसा कौनसा बहिरात्मा पुरुष है चाहे वह धनी हो, चाहे राज्यका अधिकारी हो, कौनसा ऐसा पुरुष है जो अंतरंगमें अशांति न रखता हो। बाह्य समागमके आधारपर शांतिका फैसला नहीं है। शांतिका निर्णय तो शुद्ध ज्ञानकी कलापर ही सकता है, और यह सब ज्ञान प्राप्त

होता है हमें परमागमसे । अतः ऐसे परमागमकी भक्ति करना अपने हित के लिए आवश्यक है ।

प्रथमानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— परमागममें, आगममें जितने प्रकारके वर्णन है, वह वर्णन सब यथार्थ है और अपनी-अपनी शैलियोंमें वह ज्ञानतत्त्व वैराग्यको पोषने वाला है । प्रथमानुयोग पढ़ें तो अब उन महापुरुषोंकी कलावोंको, चर्यावोंको, चारित्रोंको जब पढ़ते हैं तो कोई स्थिति ऐसी होती है कि पढने वालेको कहीं चिन्ता हो जाती है, कहीं साहस बढ़ता है । जैसे-जैसे उन कथनोंकी पात्रतासे कुछ वर्णन चलता है वैसे यहा भी इसमें उत्साह जगना, कुछ चिन्ता होना आदिक बातें होती हैं । जो पुरुष शुद्ध हैं, गुणवान् है, मोह ममतासे परे हैं ऐसे पुरुषों पर संकटकी बात पढी जाती है तो यह चिन्ता होने लगती है कि देखो इन महापुरुषोका परिवार उनके ही जमानेमें कितना संकटमें था । वे आज नहीं हैं तो भी हम आप जब उनके सकटोंकी बात सुनते हैं तो दुखी हो जाते हैं क्योकि हम सब उनके परिवार जैसा आचरण कर रहे हैं । उनका जैसा परिवार था हम आप सब भी हैं । हम आप सब भी अपने परिवार पर संकट आने पर दुःखी हुआ करते हैं । हम आप उन गुणवानोंके चरित्र पढ़कर दुःखी हो जाते हैं, उनके संकटकालके चरित्रका वर्णन सुनकर दुःखी हैं इसका कारण यह है कि हम आप भी उनके ही जैसे परिवार वाले बन रहे हैं । हां जब उनके वैराग्यका चरित्र, तपस्याका चरित्र, निर्वाणका चरित्र आता है तो उसे सुनकर स्वयमें भी ज्ञान और वैराग्यके लिए स्फुरणा होती है ।

करणानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— करणानुयोगके विषयमें क्या बतायें ? सबके स्वाद, सबके अनुभव जुदा-जुदा हैं । मिठास जैसे सब मिठाइयोंमें है, मान लो पूछा जाय पेठा, रसगुल्ला, बंगाली मिठाई इन सबके स्वादमें कैसा-कैसा आनन्द है ? आनन्द लेकर भी मुखसे बता नहीं सकते हैं ? यों ही इन सब अनुयोगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे हितस्वरूपका वर्णन किया है । करणानुयोगके अध्ययनमें जब आप बारीकीसे पढते हैं तो कहीं कर्मोंका क्षपण हुआ, कहीं उदय हुआ, कहीं आगेकी स्थितिके निषेक निकटकी स्थितिमें मिल जाते हैं । कैसे उनकी शक्ति नष्ट हुई, कैसे वे संक्रांत हुए, कैसे उनका क्षय हुआ, इत्यादि ? जब अनेक बातें पढते हैं तो उस समय चूँकि एक तो विषयकषायोंमें उपयोग नहीं रहा, दूसरे इतने उपयोगकी बात गहरे तत्त्वकी बात जो एक अपूर्व है, उसको सुनकर श्रद्धा बढ़ी, ज्ञान बढ़ा, आचरण बढ़ा और ऐसी भक्ति बढ़ती है कि धन्य हैं वे

आचार्यजन, वे कैसे ज्ञानके समुद्र थे और जब इन आचार्योंमें ही इतना विशिष्ट ज्ञान है तो जिनकी परम्परामें ये आचार्यजन यह ज्ञान बता रहे हैं वे अवश्य ही पूर्ण सर्वज्ञ हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। कितनी तरह की शुद्ध तर्कणाएँ जगती हैं और उनसे कैसा अनुपम आनन्द प्रकट होता है ?

चरणानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— चरणानुयोगकी शैली में भी विशिष्ट शुद्ध आनन्द जगता है। जैनसिद्धान्तमें चरित्रका जो क्रमिक वर्णन है सम्यक्त्वसे लेकर महाव्रत पर्यन्त तक और आगे भी अभेद निश्चय परमध्यान तक जो बाह्य और अन्तरंग आचरणका वर्णन है उस को क्रमसे निरखकर कितने ही मनुष्य इस सिद्धान्तके श्रद्धालु हो जाते हैं।

द्रव्यानुयोगकी उपासनामें हितप्रकाश— द्रव्यानुयोगका वर्णन दो विभागोंमें है— एकको समझ लीजिए न्यायशास्त्र और दूसरा समझ लीजिए अध्यात्मशास्त्र। न्यायशास्त्रमें युक्तियोंसे, साधनोंसे, विकल्पोंसे तर्कणायें उठा-उठाकर समाधान करते रहनेसे वस्तुसंबंधी कितने तत्त्वकी बातें विदित कर ली जाती हैं और अध्यात्मशास्त्रमें आत्मतत्त्वके द्रव्य गुण पर्यायरूपसे वर्णन करके फिर ऐसा जो उपाय बताया गया है जिससे यह जीव क्रमशः बाहरसे निवृत्त होकर अन्तरमें सहजशुद्ध स्वभावमें प्रवेश करता है। इन दोनों शास्त्रोंका वर्णन अपने उद्देश्यको लेकर है, किन्तु जो पुरुष इन शास्त्रोंके जानकार हैं और इन दोनों शास्त्रोंकी जानकारीके कारण अध्यात्ममें न्यायछटा और न्यायमें अध्यात्मकी झलक ऐसा परस्पर आदान-प्रदान करते हुए जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं उनके आनन्दको कौन बता सकता है ? यह आनन्द बड़े वैभवसे, सम्पदाओंसे, राज्योंसे नहीं खरीदा जा सकता है। जो शांतिकी कुञ्जी है वह अपने आपकी निर्मलता पर आधारित है।

लौकिक और अलौकिक चतुराई— हम सबका कर्तव्य यह है कि उन प्रवचनोंका अर्थात् शास्त्रोंका श्रवण कर, पठन पाठन कर कुछ लाभ उठायें। यही उन शास्त्रोंका समग्र उपदेश है कि अपने आपके सारे भ्रम-जालको समाप्त कर दें। हां उन्हें ये मायामय लोग इस मायामयी दुनियामें चतुर न मानेंगे, पर इस मायामय दुनियामें अपनी कुछ चतुराई प्रकट करनेका फल बड़ा भयानक है। किसी इष्टका वियोग होने पर यदि कोई ज्ञानी पुरुष उसका दुःख प्रदर्शित न करे, तत्त्वज्ञानका उपयोग करके अपने अंतरंगमें प्रसन्न रहे और दुःख भरी बात न करे तो रिश्तेदारोंकी निगाह में वह चतुर नहीं माना जाता। चतुर तो तब माना जायगा जब थोड़ा

रोने भी लगे और थोड़ी दुःख भरी बातें भी कहने लगें। ये मायामयी पुरुष विरुद्ध आचरण करनेमें अपनी चतुराई समझते हैं किन्तु क्या है चतुराई? क्या है अपनेसे बाहरमें कुछ? कुछ भी तो अपना अपनेसे बाहर नहीं है, ऐसा अंतःप्रकाश ज्ञानीपुरुषके ही हुआ करता है।

प्रवचनभक्तिमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध— यह ज्ञानीपुरुष इन प्रवचनोंका अर्थात् शास्त्रोंका, आगमोंका अध्ययन करके, चिंतन करके अंतरंगमें प्रसन्नता प्राप्त करता है। इन प्रवचनोंकी भक्ति करने वाले पुरुषके जब संसारके पुरुषोंपर जब परमकरुणाका भाव रहता है। ओह! ये सब जिसका वर्णन जिन प्रवचनोंमें किया गया है ऐसे इस निजअंतस्तत्त्वका रंच भी मुड़कर दर्शन नहीं करते, इस कारण इतने घोर संकट सह रहे हैं। जिनके इतनी सद्बुद्धि जगे। जो ऐसी करुणाका भाव करते हैं उन पुरुषोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

प्रवचन परम्परा— यह प्रवचन अर्थात् यह आगममूलमें सर्वज्ञ हितोपदेशी वीतराग तीर्थंकर देवकी दिव्यध्वनिसे विकसित हुआ है। इस समय जो तीर्थ चल रहा है वह अंतिम तीर्थंकर वीर प्रभुका तीर्थ चल रहा है उनकी दिव्यध्वनिके परम उपासक गौतम गणधरने श्रुतज्ञानके बलसे उस दिव्यध्वनिको झेला और द्वादशांग रूप रचना की व ज्ञानियोंको प्रकट किया। क्रमशः उनके बाद कुछ समय तक तो निरविच्छिन्न चलाते फिरे कुछ कम रह गया फिर और कम रह गया। ऐसा होते हुए आज यद्यपि अंग और पूर्वोंके रूपमें ज्ञान नहीं है फिर भी उनके भावके अनुकूल जो आज ग्रन्थ रचे हैं, हमारे इन ऋषि संतोंने जिनकी रचना की है वह आज अपना प्रकाश दिये जा रहे हैं, उन शास्त्रोंकी प्रीतिपूर्वक सेवा करना, उपासना करना, उनके भावको अपने हृदयमें धारण करना सो प्रवचनभक्ति है।

प्रवचनभक्तिकी आवश्यकता व पद्धतियां— प्रवचनभक्ति कल्याणके लिए अत्यन्त आवश्यक है। हम सबका कर्तव्य है कि स्वाध्यायकी रुचि बनायें। स्वाध्याय बिना पाप नहीं छूट सकता, कषायोंकी मंदता नहीं हो सकती। शास्त्रोंके भावको अपने हृदयमें धारण किए बिना संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रोंके मर्मको जानकर परमार्थतत्त्वका विचार भली प्रकार कर सकते हैं। ऐसे आगमकी उपासना करना और इस आगमज्ञानके देने वाले जिसके समान अपना उपकारी और कोई नहीं है ऐसे ज्ञानोदाता गुरुके उपकारका लोप न करना और ज्ञानदाता अथवा प्रवचन अर्थात् शास्त्रआगम इनकी उपासना करना सो

प्रवचनभक्ति है।

१४—आवश्यकापरिहाणि

आवश्यकापरिहाणि भावना— अब १४ वीं भावनाका नाम बतला रहे हैं आवश्यकापरिहाणि। अर्थात् आवश्यकके काममें परिहाण न करना, कमती न करना, छोड़ न देना, आवश्यक काम करते रहना ऐसी भावना का आना सो आवश्यकापरिहाणि भावना है। आवश्यक कार्यका अर्थ है मुक्तिपथमें बढ़नेके लिए, शांतिके स्थानमें पहुंचनेके लिए जो और कर्तव्य हैं उन्हें आवश्यक कार्य कहते हैं, अथवा अवशपुरुषके कामका नाम आवश्यक कार्य है। अवश उसे कहते हैं जो किसी परके आधीन न हो, विषय भोगोंका रुचिया न हो, किन्तु एक निजस्वरूपका उपासक हो ऐसे भव्य पुरुषके द्वारा जो कार्य किया जाय उसे आवश्यक कार्य कहते हैं। उन आवश्यक कार्योंमें शिथिलता न करना, हानि न पहुंचाना सो आवश्यकापरिहाणि है। ये आवश्यक कर्तव्य ६ हैं, (१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वंदन (४) प्रतिक्रमण, (५) स्वाध्याय और (६) कायोत्सर्ग।

सामायिक आवश्यक— सामायिक नाम समतापरिणाम रखने का है। इष्ट अनिष्ट नाममें, इष्ट अनिष्ट स्थापनामें, इष्ट अनिष्ट द्रव्यमें, इष्ट अनिष्ट क्षेत्रमें, इष्ट अनिष्ट कालमें और ऐसे ही इष्ट अनिष्ट विभावमें राग-द्वेष न करना, समानदृष्टिसे ज्ञाताद्रष्टा रहना सो सामायिक नामका आवश्यक कार्य है। ज्ञानी विरक्तसंत किसी भी स्थितिमें उन सब साधनोंमें अपने मूल उद्देश्यका त्याग नहीं कर देता। ज्ञानीका उद्देश्य है ज्ञाता-द्रष्टा रहना और किसी परपदार्थमें सुहावनी और असुहावनी दृष्टि न रहना, इस लक्ष्यसे गुणी पुरुष कभी विचलित नहीं होता। ऐसे समता-परिणामकी भावना बनाये रहना सो सामायिक नामक आवश्यक कार्यकी अपरिहाणि भावना है।

स्तवन आवश्यक— चतुर्विंशति तीर्थंकरोंका स्मरण करना सो स्तवन है। मोही जीवका समय किसके स्तवनमें व्यतीत होता है सो जानियेगा। कुटुम्बियोंके, मित्रोंके, स्त्रीके, पुत्रोंके इनके गुणोंके वर्णनमें उनका समय व्यतीत होता है। पिता अपने पुत्रकी बड़ाई करके अपना महत्त्व समझता है, मेरा लड़का बड़ा आज्ञाकारी है, बड़ा सीधा है, सदाचारी है, और स्त्रीकी बात तो प्राय बहुतसे जन किया ही करते हैं। ठीक है, स्त्री का नाम वैसे भी नहीं चलता, तो कमसे कम इतनी तो उनको बढ़िया बात मिली कि उनके प्रति जो जगह-जगह उनकी बड़ाईकी बातें करते हैं, स्त्रीका

यश फैला देते हैं। क्या कोई स्त्रीका नाम पूछता है? पूछा जाता है कि यह कौन है? तो यही कहते हैं कि यह फलांनेके घरवाली है। उसका नाम कोई नहीं लेता। और पुरुषोंको पूछो कि यह कौन है, तो कोई यह नहीं कहता है कि ये फलानेके पति हैं। उस पुरुषका नाम लेकर कह देते हैं कि यह अमुकचंद हैं, अमुकलाल हैं, अमुक प्रसाद है। तो चलो प्रकृतिसे पुरुषको नामका का मौका मिलता है तो प्रकृतिसे ही स्त्रीकी बड़ाई बताकर उसका पति उसका नाम जाहिर कर देता है। तो क्या क्या स्तवन किया करते हैं मोही पुरुष? स्त्री पतिकी बढ़ाई करे, पुत्र पिताकी बड़ाई करे, कोई मित्रोंकी, पर ये सब बड़ाई करना संसारमार्गको बढ़ाना है। इस बड़ाई मे अन्तरमें मोह पाप छुपा हुआ है, नहीं तो उससे बढकर कोई दूसरा नहीं है क्या जगतमें? सबसे बढ़कर उसे वही मिला क्या? अरे उससे भी रूपवान्, कलावान, सज्जन पुरुष पड़े हुए हैं; पर यह सब मोहका नाच है, पर ज्ञानी संत जिसे मुक्ति ही प्रिय है, स्वभावदृष्टि ही जिसका सर्वस्व है वह स्तवन करेगा तो जिसने स्वभावदृष्टि करके एक परमधाम प्राप्त किया है, मुक्त अवस्था, जीवनमुक्त दशा प्राप्त की है उसका स्तवन करेगा। वीतराग सर्वज्ञका स्तवन करनेसे पाप कट जाते हैं और सराग मायामयी विषयोंके साधनभूत जीवका स्तवन करनेसे पाप बढ जाया करते हैं। यह तो कुछ युक्तियोंसे भी समझा जा सकता है। ज्ञानीपुरुषका यह एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह तीर्थंकर देव, अरहतप्रभु इनका स्तवन किया करे।

वंदना आवश्यक— उपास्य देवोंमें से एक-एकका नाम लेकर उनके चारित्र उनके गुणोंपर दृष्टि देकर स्तवन करे, वंदन करें, प्रणाम करें यह तीसरा आवश्यक कार्य है। तीर्थंकर, अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधुमें एक एकका नाम उच्चारण करके स्तवन प्रणाम करना, इनके एक-एक प्रतिबिम्बादिककी वंदना करना, सशरीर व्यक्तिरूपकी वंदना करना, अरहन्त आचार्यादिकोंके एक एकके आवास क्षेत्रोंकी वंदना करना, उनके एक एकके जन्म दीक्षा निर्वाण आदिकी तिथियोंमें विशेष स्मरणसहित वंदना करना, उनके एक एकके गुणोंको याद कर कर वंदन करना—ये सब वंदना नामक आवश्यक कार्य हैं।

प्रतिक्रमण आवश्यक— चौथा आवश्यक कार्य है प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमणका बड़ा महत्त्व है। यह जीव अनादिसे दोषोंसे लिप्त चला आ रहा है। कुछ अपने दोषोंपर जरा विषाद भी करनेका, पछतावा भी करने का विवेक नहीं जगता और यह यों ही कलना चला जा रहा है। इन दोषों की शुद्धि करना यानि आवश्यक कार्य है। दोषशुद्धि किये बिना मोक्षमार्ग

में आगे बढा न जावेंगा। ये प्रतिक्रमण अनेक प्रकारके हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण— प्रथम तो दिनमें लगे हुए दोषोंको शामके समय चिंतन करना, पछतावा करना, वे अब न लगें ऐसी भावना करना, उनको दूर करना, ये दोष यों ही लग गये हैं विकल्प और विभावोंसे, ये मेरे स्वभावसे नहीं आये, ये मेरे कर्तव्य भी न थे। मैं तो स्वभावरूप हू। स्वभावरूप जो फल हू उस फलको ही तो अनुभवूँ—ऐसी भावना बनाना यही हुआ दैवसिक प्रतिक्रमण।

रात्रिक प्रतिक्रमण— रात्रिमें अपनी प्रवृत्तियोंसे जो दोष हो जाते हैं उन दोषोकी शुद्धि प्रातःकाल की जाती है, वह कहलाता है रात्रिकप्रतिक्रमण। जैसे कोई कुशल व्यापारी रोज अपने दिन भरके व्यापारका नफा टोटा देख लेता है, आज कितना गया, कितना आया यो ही मोक्षमार्गमें शुद्धभावोंका व्यवसाय करने वाला यह पुरुष एकबार नहीं किन्तु २४ घटे में दो बार शामको और प्रातःकाल अपना नफा टोटा निरखता है। मैने अपनेमें कौनसी वृत्ति ऐसी बनायी, कौनसा अधेरा ऐसा बनाया जिससे मैं बेहोश बन गया और कौनसा ऐसा शुद्ध अवलोकन किया जहा प्रकाश पाया। नफे और टोटे का शाम और सुबह हिसाब लगाना ये है दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण।

ईर्यापथ प्रतिक्रमण— फिर एक होता है ईर्यापथप्रतिक्रमण। थोड़ा चल चलकर ठहरे, चलकर आये वहा अपने अगोंके हलन चलनसे जो दोष होता है, अपराध बने हैं उन अपराधोका प्रतिक्रमण करना सो ईर्यापथ प्रतिक्रमण है। चलने के बाद ठहरे अथवा कुछ भी कार्य करे, अन्तमें प्रतिक्रमण किया जाता है। दोष लग रहे हैं तो उन दोषोंके दूर करनेका भी उद्यम करना।

पाक्षिक प्रतिक्रमण— पक्ष भरमें, १५ दिनमें लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणका अर्थ यह है कि जो दोष लग गये हैं उन दोषोंको ज्ञानबलसे दूर करना। वे कैसे दूर हो? उन दोषों से दूर रहनेका जो स्वच्छ सहज स्वभाव है उस स्वभावका आदर करना, उस स्वभावके आदरमें वे किए हुए दोष दूर हो जाते हैं। केवल कहने मात्र से कुछ नहीं होता, जब आचरण ही वैसा बनाए तो परमार्थ प्रतिक्रमण होता है।

परमार्थ प्रतिक्रमणमें विशुद्ध भाव पुरुषार्थ— प्रतिक्रमणके पाठमें एक शब्द आता है 'मिच्छामे दुक्कडे होज्ज' मेरे सर्वपाप मिथ्या हो जायें। कोई पुरुष जैसे किसी दूसरे पुरुषको मारे पीटे, गाली दे और फिर वही

कह देवे कि हमने जो कहा हो सो माफ करो। फिर पीट दे, फिर कहे कि मैंने जो कुछ कहा हो सो-माफ करो। फिर पीट दे तो वह उसका शुद्धि-करण नहीं है। ऐसे ही निर्दोष सहजस्वभावके अवलोकन विना इस शब्द मात्रके कहने पर प्रतिक्रमण नहीं हो जाता। भला प्रत्याख्यानमे तो यह कह सकते हैं कि केवल भावना करके अब यह मेरे स्वरूपमें न लगे। ठीक है आलोचना भी ठीक है। वर्तमान दोषोका गुरुसे निवेदन कर रहें हैं पर लगे हुए दोष न लगेकी तरह हो जायें इसका उपाय क्या है? अरे जब जो लगा करेंगे, वे उस दोष लगनेका निमित्त पाकर जो कर्मबंधन होना था हो गया। कुछ लगा हो तो भी न लगे हुए की तरह कर डाले, ऐसा यह प्रतिक्रमण किस उपायसे हो सकता है? वह उपाय है सहजस्वभावका दर्शन, मूलकी पकड़। जो आचरण रूपमें यह मेरे उपयोगमे केवल आ जाया करता है।

चातुर्मासिक, सांवत्सरिक व उत्तमार्थ प्रतिक्रमण— चार महीनेमे लगे हुए दोषका प्रतिक्रमण करनेको चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते है। जो वर्ष भरमें लगे हुए दोषों को दूर करनेका यह यत्न करेगा उसे वार्षिक-प्रतिक्रमण कहते हैं और सारी जिन्दगीभर जो दोष लगते हैं उनका एक उपसंहाररूपसे प्रतिक्रमण करना सो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रत्येकको सर्वप्रतिक्रमणोकी आवश्यकता— ये प्रतिक्रमण ऐसे जुदे-जुदे प्रकारके नहीं हैं कि रोज-रोज कुछ न विचारे प्रतिदिनमें कुछ न प्रति-क्रमण करे। बस चार महीने पूरे हो गए सो एक जने पोथी लेकर बैठ जाये और शुरूसे लेकर अत तक पढ़ लें और मानलें हो गया प्रतिक्रमण। न रोज-रोज करे ऐसा नहीं है। नियमित रूपसे प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने वाला पक्षमे एक बार भी प्रतिक्रमण करता है व तीनों प्रकारके प्रतिक्रमण करने वाला-चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी करता है और इस प्रकार इन सब प्रतिक्रमणोंका करने वाला फिर वर्षमें उपसंहाररूपसे प्रतिक्रमण करता है और इन सब प्रतिक्रमणों सहित और आचार संयमों सहित अपना जीवन बिताते हुए अतमें जब मरण समय होता है तो सर्वदोषोंका परिहार करके एक पूर्णप्रतिक्रमण करता है। यों इस प्रतिक्रमणमें स्वभावदृष्टिके बलसे अपनेको निर्दोष स्वच्छ ज्ञायकस्वरूपमें प्रतीति करनेसे इसके दोषोंकी शुद्धि होती है अतः वह पुनः दोष क्या करेगा? यों परमार्थ प्रतिक्रमण नामक आवश्यक कर्मकी भावना करना सो प्रतिक्रमण आवश्यकापरिहाणि है।

स्वाध्याय आवश्यक— स्वाध्याय नामका भी एक आवश्यक कर्तव्य है। स्वाध्याय करना, स्व का अध्ययन करना, सो स्वाध्याय है। अपने

आत्मतत्त्वका मनन करना आत्मिक स्वाध्याय है। कुछ भी हम पढ़ें उससे हमें क्या ग्रहण करना चाहिए ऐसा स्वहितरूप मनन करना सो स्वाध्याय है। केवल बाहरी बातोंको जानकर दिल बहला लेना, जैसे कुछ देखा, कोई दृश्य देखा तो दिल खुश हो जाय यों ही ज्ञान बढ़ाकर एक परिज्ञान कर लेना, अपने दिलको खुश कर लेना इसे स्वाध्याय न कहेंगे। किन्तु उन सब परिज्ञानोंसे आत्महितका शिक्षण लेना और आत्महित का आचरण करने की पात्रता बनाना सो स्वाध्याय है।

कथानक व देहावगाहनाके वर्णनसे स्वहितदृष्टि— जैसे प्रथमानुयोग में कुछ पढ़ते हैं तो उस जैसी ही योग्यदृष्टि व कार्य करनेका अपनेमें साहस बनाया और ध्येय बनाया तो स्वाध्याय हुआ। जहां करणानुयोगको पढ़ते हैं, ऐसे-ऐसे शरीर हैं। सबसे विशाल देहका एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा स्वयम्भूरमण समुद्रमें मत्स्य है और वह एक-एक सूत घटते घटते सबसे छोटा देह अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाणका है। तो कितने प्रकारके जीवोंके देह हो गए? इन सब देहोंमें जन्म एक निज सहजचित्स्वरूपके परिज्ञानके बिना हुआ करता है। ऐसा शिक्षण प्राप्त करके इस जगतके मायामयी स्वरूपोंका वर्णन पढ़ते जा रहे हों, उससे यह शिक्षा लेना कि ये सारी विडम्बनाएँ, ऐसी-ऐसी देहोंमें उत्पन्न होना ये सब अपने आपकी संभाल बिना हो रहे हैं, ऐसा अपने आत्महितरूप अध्ययन करना सो स्वाध्याय है।

कर्मरचनाके स्वाध्यायमें स्वहितदृष्टि— जहां कर्मोंकी रचना पढ़ते हैं वहां यह समझ लेना कि ये कर्मबन्धन निमित्त-नैमित्तिक भावसे हो जाते हैं। इनमें मूल कारण मेरा स्वयंका प्रमाद है, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टिमें यह दृढ़ नहीं रहता है और ऐसी स्थितिका निमित्त पाकर ये सब बन्धन और जमाव बन जाते हैं। मैं अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होऊँ और इन सब बंधनोंसे दूर होऊँ। जो स्वाध्याय आत्महितरूप शिक्षण लेवे वह स्वाध्याय कहलाता है।

लोकरचनाके स्वाध्यायमें स्वहितदर्शन— लोककी रचना पढ़ते समय क्या ख्याल आना चाहिए? ओह! लोकमें यों रचना है— मध्य और अर्द्धलोकमें ऐसी-ऐसी रचनाएँ हैं। ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है। जान लो अब इसमें स्वाध्याय क्या हुआ? अहो! एक आत्मज्ञान बिना एक मोह ममता अहंकारका परित्याग किए बिना इस ३४३ घन राजूप्रमाण लोकमें जन्ममरण करना पड़ता है। तो सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि हम अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करें, अहंकार और ममकारको त्यागें,

ऐसा आत्महित रूप अध्ययन होना इसका नाम स्वाध्याय है। यों ही चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें जो कुछ भी विवेचन है उसका अध्ययन करके अपने आपको हितरूपमें ढालना यह स्वाध्याय नामक आवश्यक कार्य है।

कायोत्सर्ग आवश्यक— अंतिम कर्तव्य है कायोत्सर्ग। इस देहसे भी ममत्वका त्याग होना सो कायोत्सर्ग है। ऐसा कायोत्सर्ग न करना कि धन पैसा कमाने के लिए इस शरीरसे ममता न करें। भूखे प्यासे ही पैसा कमानेके लिए चले जा रहे हैं, धूपमें फिर रहे हैं, कायसे ममता तो नहीं है ना, कायोत्सर्ग हो गया ना? अरे वहां भी कायसे ममता ही है। जहां शरीरसे भी ममत्व नहीं है वहां धन वैभव आदिसे भी ममत्व नहीं है, ऐसा उसमें गर्भित है। समस्त बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहकी ममताका त्याग होना सो कायोत्सर्ग है। जिन रागद्वेषादिक विभावोंमें परिणम रहे हैं उन परिणमनों तकसे भी ममता नही होती है इस कायोत्सर्ग कर्तव्यमें। ऐसे इस आवश्यक कर्तव्यमें हानि न करना सो आवश्यकापरिहाणि परिणाम है। ऐसी भावना रखने वाले ज्ञानी पुरुषके समस्त विश्वपर अपार करुणाके प्रसादसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

१५—सन्मार्गप्रभावना

सन्मार्गप्रभावना— तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत भावनावोंमें आज १५ वीं भावनाका वर्णन चल रहा है। इसका नाम है सन्मार्ग प्रभावना। सन्मार्ग मायने मोक्षका मार्ग, शांतिका रास्ता, उसकी प्रभावना करना, विस्तार करना, प्रसार करना सो सन्मार्ग प्रभावना है। देखो किस मार्गसे चलें तो वास्तवमें मुझे शांति हो। वही तो सन्मार्ग है। आत्मा स्वयं शांतिका घर है, ज्ञानानंदका पुञ्ज है, रागद्वेषादिक परभावोंसे और परपदार्थोंके सम्पर्कसे रहित है। ऐसे विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वकी श्रद्धा होना, उसका परिज्ञान होना और उस ही में रमण होना इसे कहते हैं सन्मार्ग। इस सन्मार्गकी प्रभावना हो उसे कहते हैं सन्मार्ग प्रभावना।

अनादि परिभ्रमणमें अब दुर्लभ भवलाभ— अनादिकालसे भटकते इस जीवने दुर्लभतासे यह मनुष्यजन्म पाया है। ख्याल तो करो, न होते आज मनुष्य, अन्य किसी छोटे भवमें होते तो आज ममता करने के लिए अहंकार करनेके लिए क्या ये साधन होते? पाया है मनुष्यजन्म तो गर्व करने के लिए नहीं, ममताके लिए नहीं, किन्तु सदाके लिए हमारे सकट छूट जायें ऐसा उपाय बनानेके लिए मनुष्य हुए हैं ऐसा समझो। प्रथम

तो निगोदसे निकलना ही कठिन है। अनन्ते जीव अब भी निगोद अवस्था में जन्ममरणके दुःख एक श्वासमें १८ बार भोगते चले आ रहे हैं। उस निगोद अवस्थासे निकलकर अन्य स्थावरोंमें यह जीव आया, वहांसे भी निकला तो दो इन्द्रियमें आया, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय हुआ, उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा, बादमें संज्ञीपंचेन्द्रियके भवमें आया। ध्यान में लाते जाइये कि हम जिस स्थितिमें आज हैं वह कितनी उत्कृष्ट स्थिति पायी है? संज्ञी जीवोंमें भी मनुष्य होना दुर्लभ है। मनुष्यके ही सबसे श्रेष्ठ मन होता है। यही श्रुतकेवली बनता है, यही केवली बनता है, इसही भव से मुक्ति प्राप्त होती है। सो मनुष्य भी हो गये।

मनुष्यभवमें भी उत्तरोत्तर दुर्लभ तत्त्वलाभ— मनुष्योंमें भी जो श्रेष्ठ समागम है वह भी मिला, उत्तम देश मिला, उत्तम कुल मिला, उत्तम जाति मिली, ये कितनी दुर्लभ बातें हैं? मनुष्य भी हुए, नीच कुल वाले हुए, नीची जाति वाले हुए तो वहां भी संस्कार पापविषयक ही रहे। इस के बाद फिर ऐसे निर्दोष पवित्र धार्मिक वातावरणका मिलना यह कितनी दुर्लभ बात है? जहां अहिंसाकी सर्वत्र पुट है, पर्व मनावें तो अहिंसा प्रधान, समारोह मनावें तो अहिंसा प्रधान। पूजा पाठ धर्मसाधन, रोजगार आरम्भ सभामें अहिंसाकी पुट लगी हुई है। ऐसा धार्मिक वातावरण पाया यह भी कितनी कठिन बात पा ली है? इसके बाद फिर धर्मको धारण करनेकी शक्ति मिली है। धार्मिक तत्त्वोंको सुनने और समझनेकी योग्यता जगी है। यह भी कितनी दुर्लभ बात है? फिर ऐसा समागम मिला है जिससे धर्ममें स्थिरता जगती है। सम्यक्त्व और सम्यक्त्वके अनुसार फिर कुछ अपना आचार भी बने इतनी समस्त बातें भी मिली हैं आज, किन्तु इस मनको विषयकषायोंके भोगोंके ख्यालमें ही गवायें दे रहे हैं तो हम आप कुमार्गकी प्रभावना कर रहे हैं। करना चाहिए सन्मार्गकी प्रभावना।

सदाचरणसे सन्मार्ग प्रभावना— यह सन्मार्ग प्रभावना खुदके शुद्ध आचरण किए बिना हो नहीं सकती। धनसे, धनके खर्च करनेसे और बड़े-बड़े विधान, पूजा, कल्याणक, पञ्चकल्याणक आदि सब कुछ समारोह मनानेसे, बड़ा धन वैभव खर्च करनेसे लोगों पर छाप क्या सन्मार्गकी पड़ सकती है? अरे लोगोंके हृदयमें सन्मार्गकी छाप पड़ेगी तब, जब खुद सन्मार्गपर चलकर सामने उन्हें दीखेंगे। अन्यथा वहां ही लोग कहने लगते हैं। वास्तवमें भी कि जिसने खुद भटा खाये, वह दूसरोंको भटाके त्यागका क्या उपदेश देगा? यह कथा सुनी है क्या आपने?

असदाचारीसे सन्मार्ग प्रभावनाका अभाव, एक दृष्टान्त— सुनिये एक कोई वक्ता सभामें भटाके अवगुण बता रहा था। भटामें सबसे बड़ा अवगुण यह हैं कि उसमें इस तरहकी पर्त होती है कि दो-दो अंगुलके भटेके टुकड़े भी बना ले तो भी कीड़ा छुपा हुआ रह सकता है। उसमे कीड़ा है कि नहीं, यह आप जान नहीं सकते। ऐसा भटेके त्यागका उपदेश कर रहे थे। बादमे घर पहुंचे। स्त्रीने भी सुन रक्खा था कि भटामें बड़े अवगुण बताये हैं हमारे पतिजीने व इसके त्यागका उपदेश भी दिया है। सो जो भटा बनाये रक्खे थे पहिलेके उठाकर नालीके पास फेंक दिया, क्योंकि बेकार हैं। अब भोजन करने आये, भाईजी ने कहा— अरे भटा नहीं बनाया क्या? स्त्री बोली कि आपने ही उपदेश किया था सो हमने जल्दी आकर उन भटोंको फेंक दिया। "अरी बटोर ला ऊपर-ऊपरसे। यह क्या?" अरे वह तो दूसरोंके लिए कह रहे थे।

असदाचारसे सन्मार्ग प्रभावनाका अभाव— हम अन्यायसे चलें, अशुद्ध व्यवहार करें, दूसरोंपर दया न रक्खें, अनेक प्रकारके दगाबाजी, छलके काम करें, इस तरहके हम काम करने वाले तो लोककी निगाहमे हैं, पर हम धर्मके नाम पर पैसा खर्च कर दें तो इससे उनके चित्त पर सन्मार्गकी छाप नहीं पड़ सकती। न भी खर्च करनेको धर्मसमारोहमे अधिक तो न सही, पर खुद भले आचरणसे रहते हों तो सन्मार्गकी प्रभावना बराबर चलेगी। दूसरी बात इस सन्मार्गकी प्रभावना किन दूसरोंमें करना है सो बतावो? अरे खुदके सन्मार्गकी बात मनमें लावो। शांति तो नीति और सच्चाईमें मिलती है। यह बात खूब अनुभव करके देख लो। अनीति और छल, मिथ्या प्रपंचोंसे कदाचित् कुछ वैभव आता है, तो वह केवल कल्पना है कि इस तरहसे आया, पर वह तो पुण्यका उदय पा कर आता है, चाहे उस समय अच्छे भाव कर लिये जाते तो आता बुरे भावसे तो कुछ कमी ही हो गई। वहां यह निर्णय करो कि पहिले अच्छे भाव कर लिये थे तो आया है।

वास्तविक प्रभावना— आ गया। मान लो कुछ धन है तो वह शांति का कारण तो है नहीं। शांतिका कारण यदि वैभव, सम्पदा, लौकिक, यश प्रतिष्ठा होती तो तीर्थंकर चक्री आदि ६ खण्डकी विभूतिको त्यागकर अपने आपके सन्मार्गमे क्यों बढ़ते? जो मनुष्य अपना आचरण शुद्ध बनाकर अपना उपकार करता है उससे दूसरोंका उपकार स्वयमेव होता रहता है। वास्तविक प्रभावना तो यह है कि अपने रत्नत्रय तेजके द्वारा अपने आत्मामें प्रवेश करें और अपने सत् आचरणको देखकर प्रजा लोग

भी सन्मार्ग पर चलें और फिर विधान पूजन समारोह जलसोंमें सब कुछ करें तो वह भी प्रभावनाका अंग बनेगा।"

धार्मिक समारोहमें विशिष्ट अभ्युदय— धार्मिक समारोहके कार्य भी प्रभावनाके ही अंग हैं। मंडप सजाकर प्रभुकी पूजा हो, अभिषेक हो। अभिषेक तो रोज-रोज करते हैं तबके भावोंको देख लो, और किसी समारोहके समय जबकि सब शांत बैठे हों, धार्मिक भावोंसे ओतप्रोत हों उस समयकी वृत्तिको देखकर उपयोग ऐसे दृश्योंमें चला जाय कि मानों तीर्थंकर प्रभुके पुण्यके प्रतापसे प्रेरित यह इन्द्र उनका अभिषेक कर रहा हो, खूब सज धजकर बड़े ध्यानसे, तो हृदय गद्गद् हो जाता है। ये भी प्रभावनाके अंग हैं, पर मूल बात यह है कि भावना करने वाले सधर्मीजनोंका आचरण स्वयं पवित्र रहना चाहिए।

ज्ञानप्रभाव— भैया! उत्तम सन्मार्ग प्रभावना तो यह है कि यथार्थ ज्ञान जगे निष्पक्ष अपने स्वरूपका और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान आये, ज्ञान अंधकारको हटाकर अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी देशना अथवा उपायका प्रचार करके फिर यथायोग्य जिन शासनका महात्म्य फैलाये, यह सन्मार्ग प्रभावना है। अपने आपमें अपना सन्मार्ग बनाये यह वास्तविक सन्मार्ग प्रभावना है। वास्तविक बात सोचो तो सही और हम बुरे बने रहेंगे, विषय और पापोंमें लगे रहेंगे तो इसके फलमें मेरी गति होगी क्या? जिसके लिए अथवा जिसका लक्ष्य करके हम पाप करेंगे, अन्याय करेंगे वे कोई भी मेरे पापके उदयमें सहायी न हो सकेंगे। सहायी तो कोई भी नहीं हो सकता है। सब जीव अपने-अपने परिणामके कर्ता हैं और अपने ही परिणामोंके भोक्ता हैं। काहेका मोह लगाव? मान लो आज आप जिस घरमें पैदा हुए न होते उस घरमें पैदा, किसी दूसरे गांवमें, दूसरे घर पैदा हुए होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? समझ लो, तब मेरे लिए मिला हुआ समागम मेरेको कुछ नहीं है। मेरे लिए तो मेरे सन्मार्गका ही सहारा यथार्थ है।

आत्मरक्षाकी उत्कृष्टता— नीतिकारोंने कहा है कि अपने कुलका विनाश यदि अपने कुलके किसी पुरुषके कारण हो रहा है तो कुलकी रक्षाके लिए उस पुरुषका त्याग कर देना चाहिए। अपने ही कुलकी कुछ करतूतके कारण यदि गाव भरका अनर्थ हो रहा है तो चाहिए कि अपने उस कुटुम्बको भी छोड़ दे, गांवको बचावे। यदि एक गांवकी करतूतके कारण सारे देश पर संकट आता है तो विवेकीका कर्तव्य है कि समस्त राष्ट्रकी रक्षाके लिए उस एक गावका परित्याग कर दे और राष्ट्रके सम्बंध

से ही समझो याने सभी परससर्गसे, यदि अपने आपके आत्माकी दुर्गति होती है, अरक्षा रहती है तो विवेकी को चाहिए कि उस राष्ट्रका भी परित्याग करदे। और सबका परित्याग करके अपने आत्मतत्त्वका लगाव करे यह बात इस सन्मार्ग प्रभावनामें ध्वनित होती है। अपने आपका सन्मार्ग प्रकट करे अपने लिए। दूसरोंका भी तब उपकार सम्भव है जब स्वयं अपने आपका कुछ उपकार करले। जो स्वयं समर्थ है वही दूसरोंके उपकारमें कारण बन सकता है।

सन्मार्गकी प्रयोगियता—उत्कृष्ट सन्मार्ग तो सर्व आरम्भ परिग्रहोंका परित्याग करके ज्ञानानन्दमात्र अपने आपके विकासमें है। जहां रागद्वेष का अभाव हो और समता परिणाम प्रकट हो, पर यह नहीं किया जा सकता, तब अपने गृहस्थधर्मको योग्य रीतिसे निभायें यह भी सन्मार्ग है और सन्मार्गकी प्रभावना है। न गृह सम्पदा छोड़ी जा सके तो रहिए घर, किन्तु यदि सम्पदा बहुत है तो पहिले यह विचार करिये कि हमने या हमारे निकट पूर्वजोंने किसी पर अन्याय तो नहीं किया है? किसी पर अन्याय करके तो नहीं धन एकत्रित किया है। यदि विदित हो कि अमुक पर अन्याय करके यह धन कमाया गया है तो वहां पहिला सन्मार्ग तो यह है कि उसका जो कुछ धन है वह वापिस कर दें, उससे क्षमायाचना करें, उसे संतुष्ट करदें, यह है सन्मार्गकी प्रभावना व अपने धर्मका पालन। यह एक कल्याणार्थी पुरुषकी बात चल रही है। धन बहुत है तो उसकी रक्षा बनाये रहें, नवीन उपार्जन न करें। अपना जीवन गुजारना है भली प्रकार गुजार रहे हैं, करनेका काम तो अपनेमें अपने ज्ञानकी प्रभावना है। अपने आपका ज्ञान बनाएँ और अपनेको शुद्ध आनन्दसे तृप्त रक्खे जिससे इन्द्रियके विषयोंका परित्याग हो जाय।

आत्मरुचिकी आवश्यकता— भैया! रुचि जगना चाहिए निज सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिके लिए कि मेरेको और कुछ नहीं चाहिए, केवल एक शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रह सकूं। इसकी ही चाह है क्योंकि इस ही स्थितिमें वास्तविक आनन्द है और भलाई है। इस निजस्वरूपसे जहां चिगे वहां सर्वत्र आकुलता ही आकुलता है। हम आप धन वैभवसे बढ़े हुए लोगोंको देखते हैं तो वे ऊपरसे बड़े सुखी नजर आते हैं; कितने मित्र हैं, कैसा ठाठ बाट है, साथमें सिपाही हैं, कैसा ठाठ है, कैसे सुखी नजर आते हैं पर यह सब ठाठ बाट तो संसारी है, मायामय चीज है। इससे शांति मिले ऐसा कोई नियम नहीं है। इसको तो वही जानता है जिस पर बीत रही है क्योंकि जहा परिग्रह का सम्बन्ध है वहां क्लेश ही क्लेश नजर आते हैं।

एक जगह लिखा है कि चाहे सूईके छेदमेंसे ऊँट निकल जाय, पर परिग्रहके रखनेसे शांति कभी हो ही नहीं सकती है। यदि अपने आपको अकिञ्चन निष्परिग्रह ज्ञानानन्दमात्र निरखो तो शांतिका उदय हो सकता है। बाह्य-पदार्थोंपर आकर्षण करने से तो शांति हो ही नहीं सकती। स्वरूप ही ऐसा है। तब क्या करें? विषयोंकी लालसा कम करें, और मन, वचन, काय व धन जो मिला है इन सबका सदुपयोग करें। दुःखी दीन गरीब ऐसे पुरुषोंके उपकारमें तन, मन, धन लगावे यह भी सन्मार्ग प्रभावना है।

उदार आशयमें लाभ ही लाभ— और भी देखो भैया! कितना ही आप परोपकार करें, त्याग करें, टोटेमें आप न रहेंगे, क्योंकि इस जीवके साथ परमाणु मात्र भी लगा नहीं है। यह तो अकेला ही है। शुद्ध कामके करनेसे, दया, दान, परोपकार, उदारता इन कामोंके करनेसे ज्ञान किरण ही मिलेगी निजस्वरूपका स्पर्श ही सम्भव है तब वहा शांति मिलेगी। जिन्हें यह मोही पुरुष समझता है कि मैं लाभ पा रहा हू वे तो सब हैं हानि की बातें और जिसे व्यामोही पुरुष जानता है दूसरे ज्ञानियोंके बारेमें कि देखो छोड़ दिया सब कुछ, अकेले रह रहे हैं, कैसा इनका दिमाग है? अरे वे बड़े लाभमें हैं। जो परको अपनाते हैं वे भी अकेले ही मरकर जायेंगे और जो त्यागवृत्तिसे रहते हैं वे भी अकेले ही मरकर जायेंगे पर यह उदारता अथवा त्यागवृत्ति वाला ज्ञानी पुरुष अपने संग कुछ लेकर जायेगा। क्या? ज्ञान व आनन्दका संस्कार। ये सब पदार्थ पुण्योदयवश मिल गए हैं और ये बिछुड़ भी जायेंगे। कोई भी पदार्थ अधूरा नहीं है, सब पूरेके पूरे हैं। पूरेके पूरे ही यहांसे जायेंगे। ऐसे अपने आपमें रत्नत्रय की उपासनासे सन्मार्गकी प्रभावना करना सो सन्मार्ग प्रभावना है।

सन्मार्गप्रभावनाका परिणाम— खोटा काम न हो, खोटा बनिज व्यापार न हो, निंदा योग्य वचन न बोले, तीव्र लोभ प्रवृत्ति न हो, व्यभिचार, झूठ, चोरी इन पापोंसे दूर रहे, कंजूसीका परिणाम न रक्खे, ऐसी सदाचारकी बातें चलें तो समझो कि सन्मार्गकी प्रभावना कर रहे हैं। यों सन्मार्गकी प्रभावना रखने वाला अन्तरात्मा पुरुष दर्शन विशुद्धिके प्रताप से, इस विश्वके उद्धारके आशयसे ऐसी पुण्य प्रकृतिका बंध करता है कि यह निकटकालमें स्वयं तीर्थंकर महापुरुष बनेगा। सो भी भैया! इसकी क्या वाञ्छा करना? यह होता है ज्ञानियोंके स्वयं। अपने आपकी निर्दोष ज्ञानकी दृष्टिसे ये सब वैभव होते हैं। उस निर्दोष ज्ञानका अवलोकन और उसमें रमण करनेका यत्न करना चाहिए।

१६—प्रवचन वत्सलत्व

प्रवचनवत्सलत्व— तीर्थंकर प्रकृतिकी बंध करने वाली भावनावोंमें आज यह अंतिम भावना आ रही है। इसका नाम है प्रवचनवत्सलत्व। प्रवचनका अर्थ है देव गुरु और धर्म। इनमें प्रीति भावका होना सो प्रवचन-वत्सलत्व है। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेद एकता हो चुकी है ऐसे ज्ञानपुञ्ज देवमें प्रीति उत्पन्न होना और जो इस स्थितिके उत्सुक हैं तथा जिनकी दृष्टि इस शुद्ध परिणमनके साधन-भूत शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर रहा करती है ऐसे साधनोंकी भावना करना यह है प्रवचनवत्सलत्व।

यथापद विविध प्रवचनवात्सल्य— जो बाह्यआभ्यतर समस्त प्रकार के परिग्रहोसे विरक्त हैं, रागद्वेषसे परे हैं, एक समता की ही जिनके उपासना रहा करती है, २२ परिसहोंके सहन करने वाले हैं, धीर गम्भीर और उदार हैं, ऐसे साधु परमेष्ठीमें प्रीति करना गुरुविषयक प्रवचन वत्सलत्व है। जो साधुकी ही तरह उनका अनुकरण करनेके अभिलाषी हैं किन्तु एक वस्त्र कोपीनमात्र जिसका परिग्रह है, शेष सर्वपरिग्रहोंका त्याग है, ऐसे ज्ञान भावके रुचिया उत्कृष्ट श्रावकमें वत्सल भाव जगना सो प्रवचन-वत्सलत्व है। इसी प्रकार स्त्रियोंमें सर्वोत्कृष्ट पद आर्यिकाका है। आर्यिकावोंके गुणोंमें वात्सल्यभाव होना, धर्मानुराग सम्यक्त्वभावकी प्रतीति होना सो प्रवचनवत्सलत्व है। और फिर सधर्मीजनोंमें, यथायोग्य श्रावक-जनोंमे, असंयत सम्यग्दृष्टियोंमें एक सधर्मिताके कारण वात्सल्य भाव होना सो प्रवचनवात्सल्य है।

अज्ञानीका वात्सल्य और उसका हितार्थ कर्तव्य— यह व्यामोही जीव कुटुम्बियोंमें, वैभव सम्पदामे, अपने कषायोंमें प्रीति रखनेमें, यश नाम ख्यातिके चाहनेमे और भी अनेक अनेक बातें हैं जिनमें प्रीति बढाये रहते हैं। उन वैभव सम्पदावोंकी प्रीतिसे इस जीवको क्या लाभ मिलता है कुछ तो बतावो। न तो वर्तमानमें लाभ है और न भविष्यमें लाभ है। तभी तो गृहस्थजनोंमें यह परम्परा थी और यही उचित है कि जिनके धन सम्पदा समागम यथोचित है उन्हें चाहिए कि वे नवीन धनका उपार्जन न करें और जो धनोपार्जन भी करना पड़ता है वह यथासमय पर इस वैभवको भाग्यका साथी जानकर धनोपार्जन करें। एक कर्तव्य निभाना पड़ रहा है ऐसा समझकर धनोपार्जन करे। बाकी अपना सारा समय सत्संगतिमे, स्वाध्याय लाभमें बिताएँ। जिस प्रकारसे अपने आपमें शांति

संतोष और स्वभावकी दृष्टि बने, सहज ऐसे कार्यमें लगना अपना कर्तव्य है यहांके जो दिखने वाले मायामय पदार्थ हैं, मायामय शरीर हैं वे सब इस संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं, वे सब अज्ञानवश परेशान हैं। किस का मन रखनेके लिए, किसको प्रसन्न करनेके लिए, किनमें अपनी बात प्रसिद्ध करनेके लिए इस आत्मस्वभावसे च्युत होनेका श्रम किया जा रहा है ? ज्ञानी संतोंकी तरह, जितना अधिकसे अधिक धर्ममें वात्सल्य उपजे, उतना ही भला है।

प्रवचन वात्सल्यमें मूल आश्रय— धर्म तो वास्तवमें आत्मस्वभाव का आश्रय करना है। परम निश्चयसे तो आत्मस्वभाव ही धर्म है। वह स्वभाव शाश्वत अंतःप्रकाशमान् है, वह विपरिणाम नहीं हुआ करता है। ऐसे अचल धर्मकी दृष्टि करनेको निश्चयसे धर्मपालन कहा करते हैं और फिर इस निश्चयधर्मकी साधनाके हम योग्य बने रहें इस पात्रताको रखने में जितने व्यवहार कार्य हैं वे भी धर्म कहलाते हैं। अपने आवश्यक कार्यों का करना, गुरुसेवा आदिक धर्मोपयोग करना, समारोहमें रहना, यह सब भी धर्मपालन कहलाता है। धर्ममें भी वात्सल्य जगना सो प्रवचन वत्सलत्व है।

धर्मकी धुनके उदाहरण— पुराणोंमें सुना होगा अकलंक और निकलंकका उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। ये दोनों भाई बड़े ही बुद्धिमान थे। अकलंक देवको एक ही बार सुन लेनेसे पाठ याद हो जाता था और निकलंक देवको दो बार सुनकर कोई भी पाठ हो याद हो जाता था। उन दोनोंकी रुचि थी कि हम सभी प्रकारके धर्मोंका, सिद्धान्तोंका ज्ञान करें। सो उन्होंने कई जगह अध्ययन किया। एक बार बुद्ध पाठशालामें भी अध्ययन किया। ओह कितनी प्रखर बुद्धि थी ? धर्मके लिए ही जिसने अपना जीवन समझा है उसकी कैसी फकीराना प्रवृत्ति होती है, जरा देखते जावो। बड़ों बड़ोंका भी कुछ रहा तो नहीं, पर उनकी वृत्ति धर्मके लिए रही तो आज भी हम उनका गुणगान करते हैं। कोई हमारा गुणगान करे इस दृष्टिसे तो उनकी वृत्ति नहीं होती है; किन्तु जब ज्ञान हुआ, वैराग्य हुआ तो मन ही नहीं लग सकता अनात्म प्रसंगमें और राग भाव का उदय चल रहा है तो वह मनको कहां लगायेगा। वह रागादिक परि-णामोंके प्रकरणमें ही तो लगायेगा। तो वे दोनों बौद्धके पाठशालामें पढ़ते थे। पढ़ते-पढते काफी समय गुजर गया। एक दिन गुरु स्याद्वादका पाठ पढा रहे थे। खण्डनात्मक ढंगसे तो किसी भी तत्त्वका खण्डन करनेके लिए पहिले पूर्वपक्ष रखा जाता है। स्याद्वादके पूर्वपक्षमें जो बात वहां आई

तो गुरुजी कुछ अटक गये। समझमें न आया और कहा कि हम इसे कल कहेंगे। पढ़ाई बंद हो गयी। अब समय देखकर जब कोई न था तो अकलंक देवने इस ग्रन्थमें एक ही शब्दकी कमीवेसी थी, जिसके कारण अर्थ नहीं लग रहा था तो उसे सुधार दिया।

प्रवचनवत्सलोका प्रवचन प्रेम और साहस— दूसरे दिन गुरुने देखा, ओह ! स्याद्वादमे इस अपूर्वपक्षको ऐसा सुधार सकने वाला इन विद्यार्थियोंमे से कौन है ? निश्चय ही वह स्याद्वादी होगा, गुणी, चतुर होगा। उस समय धर्मके नाम पर इतना कड़ा शासन चल रहा था कि अपनेको दूसरे धर्म वाले कहकर मुश्किलसे रह पाते थे। ओह परीक्षा करें, देखें, कौनसा ऐसा विद्यार्थी है जो मेरी कल्पनासे प्रतिकूल है ? एक उपाय ध्यानमें आ गया। एक मूर्ति रखी और सब लड़कोंसे कहा कि इस मूर्तिको लांघते जावो। जो इस मूर्तिको न लांघेगा समझेंगे कि वही जैन है। ओह ! उस समय बड़ी कठिन समस्या थी अकलंक और निकलंक देव को। ये दोनों थे ब्राह्मण पुत्र, बहुत दिग्गज विद्वान् हुए। सोचनेके बाद दोनोंने यह तय किया कि नहीं लांघते हैं इस मूर्तिको तो स्पष्ट उनके ही विरोधी साबित होते हैं, और ऐसे समयमे जिस उद्देश्यको लेकर अपना जीवन बनाया है, उसमें सफल ही नहीं हो सकते। उद्देश्य क्या था कि जो यथार्थ ज्ञान है, वस्तुका स्वरूप है वह जगत्के सामने आये, यह उनकी धर्म वात्सल्यता। कितना उनका त्याग था ? हम आप लोग कहां ऐसा त्याग कर सकते हैं। यहां तो जरा-जरासी बातोंमे अनुदारता अपना घर जमाया करती है। वे दोनों एक निर्णय कर पाये कि एक-एक धागा ले और मूर्ति पर डालकर और यह मानकर कि अब यह मूर्ति ग्रन्थ सहित हो गयी, परिग्रह सहित हो गयी, भावोंकी ही तो बात है। दोनोंने यह तय किया और धागा डालकर मूर्ति भी लांघ गये। अब ऐसा करनेमें उनके दिलसे पूछो जो ऐसा करनेको भी तैयार हो सकते हैं धर्मप्रेमके खातिर।

प्रवचन वात्सल्यमें संकटोंके मुकाबिलेका साहस— अब बादमें दूसरी परीक्षा की। क्या ? कि रात्रिके समय चार बजे घंटी बजा करती थी और तब सब विद्यार्थी प्रार्थना किया करते थे। गुरुने एक दिन सोचा कि आज ४ बजे नहीं किन्तु दो ही बजे खूब थालियां नीचे पटकें व ठोंके जिससे कि अचानक ही सब विद्यार्थी जग जाये, और अचानक जगने पर, भयकी बात सामने आने पर जिस विद्यार्थीके मनमें जो देव बसा होगा वह उसका उच्चारण करने लगेगा। तो दस पांच कार्यकर्ता इस बातको निरखते रहे कि कौन विद्यार्थी किस देवका नामोच्चारण करता है ? जब थालियां खूब

पटकने लगे तो सब विद्यार्थी घबड़ाकर उठ पड़े और अपने अपने इष्टदेव का नाम लेने लगे। उस समय अकलंक निकलको देखा तो वे दोनों णमो अरिहंताणं णमोअरिहंताणं पढ़ रहे थे। वे दोनों पकड़ लिए गए और जेलमें बंद कर दिए गए। उसका निर्णय किया गया था कि इन दोनोंका प्राण घात करो, इन्हें फांसी पर लटकावो। अब दोनों ही चिंतातुर हुए। रात्रिके समय पड़े हुए हैं, सोच रहे हैं कि हमें फासीका डर नहीं। क्या होगा? यह मैं जो कुछ हूं वह तो शाश्वत हूं। यहां न रहा और कहीं चला गया, पर अभी कुछ अपने लिए धर्मसाधना शेष थी और ज्ञानोपयोग करके विश्वका भी उपकार करना शेष था। ऐसा वे चिंतामें पड़े हुए थे। तब जिनभक्त देवीने सहाय की। जिससे अचानक ही सब पहरेदार सो गए, जेलके किवाड़ खुल गए और एक संकेत दिया कि अब निकल जाओ। वे जेलसे निकल कर चले जा रहे थे।

प्रवचन वात्सल्यमें सर्वस्व न्यौछावर— सुबह ९-१० बजे बड़ी चर्चा हुई कि वे दोनों तो जेलसे निकल ही भागे। राजाने चारों ओर नंगी तलवार लेकर अनेक घुड़सवार भेजे। निकलंकने अकलंकसे कहा कि देखो भाई अब प्राण नहीं रह सकते हैं, हम तो दो बारमें पाठ याद करते हैं, आपकी इतनी विशिष्ट बुद्धि है कि एक बारमें ही पाठ याद करते हैं। तो आप कहीं छिप जाइये। अकलंक बोला भाई यह कैसे होगा, हम क्यों छिप जावें? जब बहुत ही नजदीक आये तो निकलंक अकलंकके पैरोंमें पड़कर गिड़गिड़ाकर कहता है कि क्यों नहीं छिप जाते हो, उस समय एक एक दूसरेको मना रहा हो कि मुझे मर जाने दो आप मुझपर दया करें, आप बच जाइये, उसमें कितनी बड़ी धर्मकी वात्सल्यता कही जाय? जिसने धर्मकी प्रभावनाके लिए जीवन भी लगा दिया हो उससे बढ़कर और उदारता क्या हो सकती है और जो जीवनमें अपने प्यारे बन्धुको धर्मके खातिर मरता हुआ देखना सहन करले, उसकी उदारताको भी कौन कह सकता है? भैया! जान लो कि धर्मवत्सलतामें अपने आपको कितना न्यौछावर किया जा सकता है?

परमार्थ करुणा— यह प्रवचनवात्सल्य जिनज्ञानी अन्तरात्माओंके प्रकट होता है तब विश्वके जीवोंपर यह दृष्टि लगती है ओह सुखका मार्ग आनन्दका मार्ग, शांतिका मार्ग बिल्कुल निकट ही तो है। स्वयं ही तो यह आनन्दका भण्डार है किन्तु यह एक अपने आपको न देख सकनेके कारण कितना महान् अन्तर आ गया है, कितनी विडम्बना बन गयी है कि जीव को कुयोनियोंमें इस प्रकार परिभ्रमण करना पड़ता है। थोड़ा ही तो

उपाय है। न करे यह परका मोह, अपना जो यथार्थ सहजस्वरूप है उसे ही पहिचान जाय, इसमें कितना श्रम है। कोई कमाई नहीं करना है, यह काम कितना सुगम है और परको प्रसन्न करनेका पैसा कमाने का, वैभव जोडने का, ये सारे काम कितने कठिन हैं, पर यह व्यामोही जीव मानता है कि मै अमुक पदार्थको भोगूँ, अमुकको प्रसन्न रक्खूँ। इस कुबुद्धिके कारण मुग्ध जीव इस संसारमें परिभ्रमण कर रहे है। यह जीव न बाहर मे उपयोग लगाये, अपने आपको पहिचान ले तो इसके सारे क्लेश मिट सकते हैं।

पीडीका आधार स्नेह— शांति संतोष क्या बाह्यपदार्थोके स्नेहसे कभी हो सकता है ? नहीं हो सकता है। स्नेह तो पेलनेके काम आता है। स्नेह मायने तैल। तैल सरसोंमे होता है। तैलके कारण ही सरसों कोल्हू में पेले जाते हैं। कोई भूसी या बालूको भी कोल्हूमे पेलता है क्या ? जिसमे तैल हो वही पिला करता है अर्थात् जिसमे स्नेह हो वही पुरुष पिलता रहता है, दुःखी होता रहता है। विषादकी बात तो यह है कि जिस अपराधके कारण दुःख होता है उस अपराधको मेटनेके उपायमें उसी अपराधको कर रहे हैं तो जैसे कपडेमे खूनका लगा हुआ दाग हो और उसे धोनेके लिए कोई खूनसे ही धोए तो क्या दाग छूट जायेगा ? नहीं छूट सकता। इसी प्रकार रागद्वेषसे जो वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं उन वेदनावों को शांत करने के लिए राग और द्वेषका ही ससारी जन प्रयोग करते हैं तो इस प्रयोगसे, रागद्वेषसे क्या रोग मिट जायेगा अथवा बढ जायेगा ? ये विश्वके प्राणी इतना क्यों नहीं कर लेते हैं कि भ्रमवश थोडीसी हैरानी जो हो रही है उसे दूर करदें।

अज्ञानी और ज्ञानियोंकी विलक्षण हैरानी— देखो भैया ! यहां ज्ञानी भी विश्वकरुणावश थोडे हैरान हो रहे हैं। करुणामें हैरान गति तो हुआ ही करती है। करुणा कहो अथवा वेदना कहो। करुणा भी एक वेदना है, और करुणा होने पर जो उपाय किया जाता है वह अपनी वेदना शांत करनेके लिए किया जाता है। ये ज्ञानी महापुरुष विश्वके जीवोंकी वृत्ति देखकर थोडा विषाद कर रहे हैं। क्या करें, एक वेदना हो बैठी है। देखो तो सीधीसी बात सुगम स्वाधीन निजकी बात जो स्वय है, निकट भी क्या कहें, वही ग्रहणमें नहीं आ रहा है, और स्वयं ग्रहणमें नहीं आता है। इसके फलमें यह कितनी दूर परपदार्थोंमें बह गया है। यह आत्मदृष्टि पाये और आनन्दमग्न हो, ऐसी एक परमकरुणा जगती है। अज्ञानी और ज्ञानी अपनी-अपनी कैसी विलक्षण हैरानी लिये रहते हैं।

निर्वाञ्छ ज्ञानयोगवश परमार्थ करुणासे तीर्थंकर प्रकृतिका ब-- करुणाके विशुद्ध भावके प्रतापसे यह अंतरात्मा पुरुष तीर्थंकर -- बंध करता है। तीर्थंकर प्रकृति बँधे ऐसी भावना ज्ञानियोंकी नहीं होत पर ऐसा कार्य बन पड़ता है कि न चाहते हुए भी तीर्थंकर प्रकृतिका होगा। क्या कोई पुरुष ऐसा चिंतन करेगा कि मैं तीर्थंकर बन जा। यदि कोई मैं तीर्थंकर बनूँ इस ध्येयसे पूजा करे, ज्ञानप्रचार करे, भी करे, अपना सर्वस्व भी त्याग दे, हांलाकि वे अज्ञानीजन सर्वस्व त्य नहीं सकते क्योंकि अन्तरमें तीर्थंकरके वैभवकी वाञ्छा पड़ी हुई है। म लो, जिसे दुनियाकी लोग सर्वस्व मानते हैं उसे भी त्याग दे तो भी तीर्थंकर प्रकृति बँध जायेगी? अरे जो योग्य परिणाम करेगा उसके तीर्थंकर प्रकृति बंधेगी। बातें करनेसे गप्पें करनेसे तीर्थंकर प्रकृतिका नहीं होता।

स्वपुरुषार्थबलसे कार्यसिद्धिसम्पन्नता— एक बाबू साहब बम्बई रहे थे। पड़ौसकी स्त्रियां आयीं और कहने लगीं कि बाबू जी हमारे को खेलनेका हवाई जहाज लेते आना, कोई सेठानी कहती कि हमारे मु को खेलनेकी रेलगाड़ी ले आना। इसी तरहसे दसों पड़ोसकी सेठा। अपनी-अपनी बात कह गयीं। बादमें एक बुढ़िया २ पैसे लेकर आयी औ बोली, बाबू जी यह लो दो पैसे हमारे मुन्नाको खेलनेके लिए मिट्टीक खिलौना ले आना। तो बाबू जी कहते हैं कि बुढ़िया मा मुन्ना तेरा खिलौना खेलेगा, और तो सभी सेठानियां गप्पें मारने वाली थीं। उन मुन्ना खिलौना नहीं खेल सकते। तो समझो कि जिसका परिणाम निर्म है, अपने आपके प्रयोगमें अभ्यासमें निरत है, ऐसी विशुद्ध धुन है की वह पुरुष फिर अशांत नहीं बन सकता है। हमें चाहिए कि सं... समस्त वस्तुवोंको असार जानकर, उन्हें धूलवत् समझकर उनसे मम भाव न रक्खें। जब शरीर भी मेरा साथी नहीं है तो अन्यकी क्या कथनी करें? अपना जो निज तत्त्व है, ज्ञानोपयोग, ज्ञानभाव, स्वभाव है उसकी दृष्टि, आश्रय, अध्ययन करें तो इस आत्मपुरुषार्थके बलसे हम संसार समस्त संकटोंसे मुक्त हो सकेंगे। ये १६ भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाली क्या-क्या हैं उन्हें जानकर और उस योग्य निश्छल होकर अपने परिणाम बनायें। अपने इस सम्यक्त्व ज्ञान और आचरणकी वृत्ति से ही ये समस्त संकट टल जायेंगे।

❀ षोडशभावना प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ❀

...प्रेस, सदर मेरठसे मुद्रित